वैचारिकी

भारतीय विद्या मन्दिर की द्वैमासिक शोध पत्रिका

अध्यक्ष-प्रधान सम्पादक

डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

सम्पादक

डॉ. बाबूलाल शर्मा

प्रबंध सम्पादक

शंकरलाल सोमानी

कार्यालय

भारतीय विद्या मंदिर

12/1, नेली सेनगुप्ता सरणी

कोलकाता-700 087

दूरभाष : 033-71001614

मो. : 09830559364

ई-मेल : bvm.vaicharika@gmail.com

Website : www.bharatiyavidyamandir.org

सदस्यता शुल्क

वार्षिक 400/- रुपये

द्वैवार्षिक 800/- रुपये

भुगतान

Payee's Name:

BHARATIYA VIDYA MANDIR

Current A/c No. : 32030320176

Bank : STATE BANK OF INDIA

Branch: New Market

IFSC Code No. : SBIN0004662

ISSN 0975-6531 **भाग : 38 अंक : 3**

वैचारिकी

धर्म-दर्शन-विज्ञान, साहित्य-लोकसाहित्य, इतिहास-पुरातत्व, कला-लोककला

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से मान्यता प्राप्त

मई-जून, 2022 ईस्वी ✷ वैशाख शुक्ल 1, वि. सं. 2078-79 से आषाढ़ शुक्ल 1, 2078-79 वि. सं. ✷ ₹ 70/-

अनुक्रम

- **अध्यक्षीय** 3
- **संपादकीय** 5
- **हल्दीघाटी का युद्ध**
  अजित बच्छावत 10
- **प्राचीन तमिल प्रदेश का बाह्य संपर्क**
  डॉ. एम. शेषन् 18
- **प्राचीन भारत के परिधान**
  प्रो. राजेन्द्र गर्ग 31
- **श्रीलंका में बौद्ध धर्म के प्रचारक भारतीय विद्वान**
  पूनम एवं सविता देवी 35
- **प्राचीन भारत में व्यावसायिक संगठनों का सांस्कृतिक अवदान**
  डॉ. आनन्द कुमार शर्मा 40
- **पुरातात्विक स्थल नठारा की पाल : प्रारम्भिक रपट**
  डॉ. ललित पाण्डेय
  डॉ. कुलशेखर व्यास 46
- **राघोगढ : इतिहास एवं दर्शनीयता**
  अक्षय कुमार देराश्री 50
- **सरस्वती नदी घाटी के उत्खननकर्ता पुरातत्त्ववेत्ता**
  कमल सिंह 54
- **महिषासुरमर्दिनी दुर्गा का शास्त्रोक्त स्वरूप**
  डॉ. दिनेश कुमार 58
- **भरतपुर महाराजा सूरजमल की कलात्मक छतरी**
  डॉ. आलोक कुमार 64
- **इतिहास के आइने में 'बोस' और 'गांधी' के वैचारिक मतभेद**
  नरेश शर्मा 71
- **कश्मीर के सूफी फकीरों-ऋषियों का साहित्यिक वैभव**
  डॉ. रंजना राजदान 79
- **चलते तो अच्छा था में ईरान का इतिहास**
  स्मृतिरेखा नायक 91

- प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक-प्रकाशक की अनुमति आवश्यक।
- प्रकाशित लेखादि में अभिव्यक्त विचारों से प्रकाशक-सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- समस्त विवादों के लिए न्यायालय क्षेत्र कोलकाता।

अध्यक्षीय

नरसिंह अवतार : एक विवेचन

(नरसिंह चतुर्दशी के अवसर पर)

भारतीय संस्कृति बहुत प्राचीन है और इसमें प्राचीन काल से सनातन धर्म की धारा पूरे भारतीय समाज में प्रवाहित है। इसके स्वरूप निर्धारण में वेदों, उपनिषदों, आगम-निगम की प्रमुख भूमिका रही। बाद में पुराणों में इसके स्वरूप का और भी विकास हुआ। गीता में भगवान द्वारा अर्जुन को दिया गया धर्म का उपदेश विश्वभर में आदरणीय हुआ। वैदिक परम्परा में अवतारवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ जिसके अंतर्गत यह प्रतिस्थापित किया गया कि परम चैतन्य ब्रह्म सर्व-व्याप्त है, विश्व के कण-कण में अर्थात सभी पदार्थों में उस परम चैतन्य की सत्ता है और वह समय-समय पर विशेष कारणों से प्रकट होती है। इसी सिद्धांत के अंतर्गत पुराणों में भगवान विष्णु के अवतारों एवं उनकी लीलाओं का वर्णन किया गया जिससे जनसाधारण के लिए धर्माचरण सहज ग्राह्य हो गया।

पुराणों के अनुसार विष्णु के 10 अवतार प्रमुख हैं - 1. मत्स्य अवतार, 2. कूर्म अवतार, 3. वराह अवतार, 4. नरसिंह अवतार, 5. वामन अवतार, 6. परशुराम अवतार, 7. श्रीराम अवतार, 8. श्रीकृष्ण अवतार, 9. बुद्ध अवतार और 10. कल्कि अवतार। इन अवतारों में सबसे विचित्र अवतार नरसिंह का है। एक मात्र यही अवतार है जिसका धड़ मुनष्य का और सर सिंह का है। अन्य सभी अवतार सहज रूप से ही प्रकट हुए हैं, लेकिन नरसिंह पत्थर के खम्भे को फाड़कर प्रकट हुये, यह अपने आप में एक अद्‌भुत बात है। ऐसा क्यों हुआ और साथ ही इस अवतार की प्रचंडता भी विचारणीय है। नरसिंह अवतार के संबंध में उल्लेखनीय बात यह है कि यह अवतार भक्त प्रह्लाद पर उसके पिता दैत्यराज हिरण्यकश्यप के अत्याचारों की अति के कारण और उन अत्याचारों से भक्त प्रह्लाद की रक्षा के लिए हुआ।

यहां यह जिज्ञासा है कि महान परम चेतना (Consciousness) सर्वाधिक जड़ पदार्थ पत्थर से उत्पन्न हुई अथवा पत्थर के खम्भे से फाड़कर नरसिंह के रूप में प्रकट हुई। अब यह सिद्ध हो चुका है कि संसार के सभी पदार्थों में चेतना है, यद्यपि उनमें चेतना की मात्रा का अंतर है। संभवतः पत्थर में चेतना का सबसे कम अंश है और उसमें परम चेतना का प्रकट होना या अवतरित होना विस्मयकारी है। यही कारण है कि इस अवतार के समय हिरण्यकश्यप सहित वहाँ उपस्थितजन ही नहीं देवता भी विस्मय से आक्रांत हो गए। स्वाभाविक तौर पर यह

जिज्ञासा होती है कि वह परम चेतना क्या सर्व व्याप्त है? जड़ और चेतन सब में किसी न किसी रूप में विद्यमान है और यहाँ तक कि एक पत्थर के खम्भे में से परम चैतन्य प्रभु विष्णु अवतरित होकर नरसिंह रूप में प्रकट हुये। क्यों हुआ ऐसा?

एक पत्थर के खम्भे से इस प्रकार भयंकर रूप में प्रकट होना यह दर्शाता है कि चेतना सर्व व्याप्त है अर्थात सब पदार्थों में चेतन है अथवा सब पदार्थ चेतन में हैं। परम चेतन के इस प्रचंड दृश्य में प्रकट होने का कारण क्या प्रह्लाद द्वारा विकल तीव्र भावावेश में की गई प्रार्थना है और उसके फलस्वरूप भगवान विष्णु उतनी ही प्रचंड तीव्रता से प्रकट हुए। यह उसी प्रकार लगता है कि जब बरसात में बादल में जलकणों के घर्षण से धन विद्युत इकट्ठी हो जाती है तो उसी अनुपात में पृथ्वी पर ठीक उसके सामने ऋण विद्युत इकट्ठी हो जाती है। जब इसकी अंतर्निहित शक्ति (Potentiality) एक सीमा से अधिक बढ़ जाती है तो तीव्र घर्षण के साथ विद्युत भयंकर गड़गड़ाहट करते हुए प्रपात होता है। विश्व एक परम चेतन सत्ता से बना है और वह सर्व व्याप्त है, उसे ही ब्रह्म या भगवान कहते हैं। वह विभिन्न कारणों से विभिन्न अवतारों में अभिव्यक्त होता है। भक्त की साधना में भाव की तीव्रता हो तो आज भी वह परम चेतना किसी खम्भे में भगवान नरसिंह के रूप में प्रकट हो सकती है। हम देखते हैं कि किसी देवता की बहुत-सी मूर्तियों में से कोई अथवा कुछ मूर्तियां विशेष रूप से फलदायी हो जाती हैं। संभवतः इसका कारण उस मूर्ति विशेष के प्रति भक्तों का भक्ति-भाव, उनकी गहरी भावना और इससे जुड़ी हुई चेतना का मूर्ति में निक्षेप होना है। मुझे लगता है कि भक्त की प्रार्थना कुछ इसी तरह ही सघन चेतना से भरने पर किसी भी जड़ पदार्थ में इसका प्रभाव ला सकती है? प्रश्न उठता है कि क्या यह चेतना लहर की तरह होती है? मंदिर में बहुत से भक्तों की सम्मिलित चेतना की भावना की गूंज (Resonance) से एक धातु या पत्थर की मूर्ति में चेतना तीव्र रूप से बढ़ती है और वह मूर्ति परम चेतन भगवान का रूप हो जाती है, जैसाकि समान धर्मा लहरों (Harmonic Wave) में अन्यत्र भी होता है। इस विषय पर क्वांटम भौतिकी (Quantum Physics) विज्ञान के विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है और लिख रहे हैं।

नरसिंह अवतार का प्रसंग भाव-प्रतिष्ठा का रोमांचकारी उदाहरण भी है जिसमें प्रह्लाद की एकाग्र भाव-चेतना के कारण भगवान पत्थर के खम्भे में प्रतिष्ठित होकर, नरसिंह के रूप में प्रकट हुए। मंदिर में पत्थर अथवा धातु की मूर्ति में विभिन्न शास्त्र-विधियों के कर्मकाण्ड से प्राण प्रतिष्ठा करने के उपरांत ही उसकी पूजा की जाती है। परंतु अधिकतर तो, विशेषकर आदिवासी क्षेत्रों एवं घरों में किसी मूर्ति या चित्र में, बिना शास्त्र-विधि के ही पूजा होने लगती है। क्योंकि उस मूर्ति या चित्र में संबंधित देवता की भाव से ही प्रतिष्ठा कर ली जाती है। इस प्रकार दो पद्धतियां हुई, एक शास्त्र विधि से प्राण प्रतिष्ठा और दूसरी भाव प्रतिष्ठा। वैसे कर्मकाण्ड के मूल में भी भाव ही है, भाव को ही संस्कार का रूप देकर उसकी एक कर्मकाण्ड परक विधि बना ली गई है। पौराणिक कथाओं में प्रसंग हैं कि अमुक को हजारों वर्ष तपस्या करने पर भगवान ने दर्शन देकर वरदान दिए, परंतु साथ ही गज, अजामिल, गणिका के प्रसंग भी हैं जिन्हें एक बार पुकारने पर ही प्रभु ने दर्शन देकर उन्हें मुक्ति-लाभ दे दिया। यहां यह उल्लेखनीय है कि भाव की तीव्रता के साथ में भगवत कृपा का भी महत्व है। क्योंकि प्रार्थना तो बहुत लोग करते हैं, लेकिन भगवत कृपा किसी-किसी पर होती है और जब उनकी इच्छा होती है तो अवतरित होते हैं संसारी जीवों के कल्याणार्थ धर्म की स्थापना हेतु भगवान जैसा गीता में कहा है - परित्राणाय साधूनाम विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।। भगवान को कृपा के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता पर जहां उनकी इच्छा होती है वहां कृपा कर देते हैं। उनकी धर्म की स्थापना की इच्छा होती है तो वे भक्तों पर कृपा करते हैं जबकि तपस्यामार्ग या साधनामार्ग से बहुत लंबे समय तक यहां तक कि जन्म-जन्मान्तरों तक देवताओं से वरदान प्राप्त करने के लिए तपस्या करनी पड़ती है। यह भी मान्यता है कि ऋषियों, महान-संतों, महान-आत्माओं के रूप में भी भगवतांश अवतरित होते रहते हैं। यह भी धर्म संस्थापना हेतु भगवत इच्छा से सम्भव होता है।

- डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

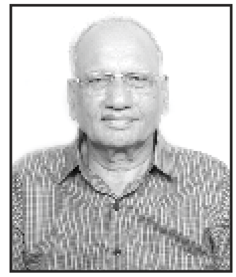

संपादकीय

प्रताप महान

महाराणा प्रताप की 483वीं जयंती पर गर्व-गुमेज भरा स्मरण, नमन! जेठ सुदी 3 रविवार वि. सं. 1597 तदनुसार 9 मई 1540 ई. को मेवाड़ (चित्तौड़) के महाराणा उदयसिंह के पुत्र के रूप में जन्मे और उनके उत्तराधिकारी हुए प्रताप सिंह ने आजीवन घोर कष्ट सहकर विकट परिस्थितियों का धैर्यपूर्वक सामना करते हुए अपने जातीय गौरव एवं स्वातंत्र्य प्रेम पर दृढ़ रहते हुए, साम्राज्य विस्तार में लगे महाबली मुगल बादशाह अकबर की अन्य राजाओं की तरह अधीनता स्वीकार नहीं की और इसीलिए वह धैर्य, कष्ट सहिष्णुता, शौर्य, पराक्रम, जातीय गौरव, नैतिक धर्माचरण पर दृढ़ता, स्वातंत्र्य, देशप्रेम तथा राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक महाराणा प्रताप महान है।

पाश्चात्य इतिहासकारों ने प्रताप महान नहीं लिखकर अकबर महान लिखा और इसी तरह लिखा सिकंदर महान तथा कालीदास वाज शेक्सपीयर ऑफ इण्डिया और उनके अनुसरण पर भारतीय इतिहासकारों में भी यह तोता रटंत हो गयी, जबकि हमें तो लिखना चाहिए- पोरस महान, अशोक महान, प्रताप महान, शेक्सपीयर वाज कालीदास ऑफ ब्रिटेन। इसमें दो राय नहीं कि पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय इतिहास, संस्कृति, साहित्य के संबंध में विपुल शोधकार्य किया जिससे भारतीयों में भी तत्संबंधी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई, जिसके लिए उनके प्रति हार्दिक धन्यवाद, परंतु उनके लेखन में उनका अपना दृष्टिकोण भी है एवं भारतीय परंपराओं व तत्संबंधी आचरण के संबंध में अनभिज्ञता भी है इसी से वे महानता संबंधी अपने दृष्टिकोण के अनुसार भारी सैनिक अभियान चलाकर, भयंकर मारकाट करते हुए अपनी सत्ता का विस्तार करने वालों को महान लिख रहे हैं। जबकि हमारी दृष्टि में सम्राट अशोक की महानता इसमें नहीं है कि उसने कलिंग युद्ध में भयंकर नरसंहार किया, अपितु इसलिए कि परवर्तीकाल में उसने बिना कोई युद्ध किए अपना साम्राज्य बनाए रखा और धर्म-राज्य स्थापित किया जिसमें उसने लोकोपकारी कार्य किए तथा लोगों को धर्माचरण के लिए प्रेरित किया तथा इस सदोद्देश्य से शिलालेखों व स्तम्भों की स्थापना की। अशोक की इस महानता के कारण ही उसके सारनाथ स्तम्भ का सिंहमुख शीर्ष स्वतंत्र भारत गणराज्य का राज्यचिह्न है और उस पर अत्कीर्ण धर्मचक्र हमारे राष्ट्रीय ध्वज के मध्य

अंकित है। अब यह हमारी कृतघ्नता ही है कि आजादी के बाद से ही इस महान सम्राट अशोक के स्मरण हेतु कभी भी कोई राजकीय आयोजन या अवकाश घोषित नहीं हुआ, अस्तु। पं. नेहरू ने 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' पुस्तक लिखकर कहा, 'मेरा भारत महान', तो इसलिए नहीं कि भारत ने विश्व विजय के अभियान चलाए थे, अपितु इसलिए कि इसकी संस्कृति में उदारता, सहिष्णुता, जीवन का उल्लास, दूसरे के जीवन व अधिकार की रक्षा जैसे मानव-मूल्य हैं। भारत के तो प्रत्येक प्रांत में ऐसे ऐतिहासिक वीर व्यक्तियों की विरुदावली गायी जाती है और वे लोकदेवताओं के रूप में पूजे जाते हैं जिन्होंने स्वाभिमान व परहित के लिए अपना जीवन उत्सर्ग किया जबकि वे बड़े राजा-महाराजा नहीं अपितु छोटे-मोटे ठिकानों के स्वामी मात्र थे अथवा वह भी नहीं।

वस्तुतः आजादी के बाद धर्म-निरपेक्षता और समाजवाद के नाम पर वह सब कुछ किया गया जिससे कि प्रकट हो कि हमारे पास गौरव करने लिए कुछ नहीं है और इसके लिए योजनापूर्वक इतिहास को विकृत करने व उसे पाठ्य पुस्तकों में परोसने का काम हुआ। इसी से यह प्रश्न खड़ा हुआ कि अकबर महान है या प्रताप महान है?

वास्तविकता तो यह है कि भारतीय जनमानस पर स्वाभिमान, देशप्रेम, स्वत्व रक्षा के लिए अनेक कष्ट झेलने वाले, प्रजापालक, वीरवर पराक्रमी योद्धा और शत्रु के प्रति भी उदारतापूर्ण नैतिक आचरण करने वाले प्रताप की ही महानता अंकित है। इसका ही परिणाम है कि महाराणा प्रताप एक मात्र ऐतिहासिक व्यक्तित्व है जिसे लेकर राजस्थान में ही नहीं अपितु देश के अन्य प्रांतों उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, आसाम, तमिलनाडु, कर्नाटक, गुजरात आदि में भी शताधिक काव्यों, नाटकों, उपन्यासों, कहानियों की रचना हुई, फिल्में बनी और कर्नाटक के भारत प्रसिद्ध चित्रकार राजा रवि वर्मा ने राणा प्रताप का चित्र बनाया (जो संभवतः उनके द्वारा किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का एक मात्र और राणा प्रताप का प्रथम चित्र है) जो मुद्रित होकर जन-जन को सुलभ हुआ।

मुगल बादशाह अकबर (सन् 1556 से 1605) ने अपने साम्राज्य को सुदृढ़ करने व विस्तार के लिए राजस्थान के राजपूत राजाओं से वैवाहिक संबंध करने व उनको अधीन करने की नीति अपनाई। इसके तहत सर्वप्रथम आमेर (वर्तमान जयपुर) के राजा भारमल की पुत्री हरखूबाई से सन् 1562 में विवाह किया जिससे उसके उत्तराधिकारी राजा भगवानदास और फिर उसके पुत्र राजा मानसिंह को अकबरी दरबार में बड़ा मनसब (पद) प्राप्त हुआ। अबकर के एक सेनापति के रूप में मानसिंह ने कितने ही युद्ध कर मुगल साम्राज्य के विस्तार में योगदान किया। अकबर ने समझ लिया था कि राजपूत राज्यों में सिरमौड़ राज्य मेवाड़ या चित्तौड़ को अधीन कर लिया जाए तो अन्य राज्य स्वतः ही अधीन हो जाएंगे। चित्तौड़ के राणाराणा उदयसिंह (सन् 1537 से 1572) ने अधीनता स्वीकार नहीं की तो अकबर ने 1567 ई. में चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया। इस समय प्रताप की आयु 27 वर्ष थी जिसके धीर-गंभीर स्वभाव, स्वाभिमान, शूरवीरता एवं योग्यता से प्रभावित मेवाड़ राज्य के सामंतों एवं प्रजा के आग्रह के दबाव में महाराणा उदयसिंह द्वारा अपने छोटे पुत्र प्रताप को अपना उत्तराधिकारी घोषित करने से नाराज होकर प्रताप के दो सौतेले भाई जगमाल सिंह व शक्ति सिंह चित्तौड़गढ़ छोड़ कर अकबर के पास चले गए थे, हालांकि उन्होंने अकबर के चित्तौड़-अभियान में भाग नहीं लिया। बादशाह अकबर के नेतृत्व में मुगल सेना ने चित्तौड़ से 12 कि.मी. दूरी पर नगरी नामक स्थान पर पड़ाव डाला तो अपने सरदारों के आग्रह पर गढ़ की रक्षा का भार उन पर डाल कर महाराणा उदयसिंह सपरिवार चित्तौड़ छोड़कर मेवाड़ के गहन पर्वतीय अंचल में चला गया। मुगल सेना ने चित्तौड़गढ़ को घेरकर पड़ाव डाल दिया। लम्बे समय तक घेरा रहने से गढ़ में खाद्य-सामग्री का अभाव होने और मुगल सेना द्वारा गढ़ के परकोटे को जगह-जगह क्षतिग्रस्त कर देने से राजपूत वीरों ने मरण-युद्ध (अंतिम-युद्ध) और वीरांगनाओं ने जौहर का निर्णय लिया। 1303 में राणा रतनसिंह के समय अल्लाउदीन खिलजी के आक्रमण से, फिर 1535 में राणा विक्रमसिंह के समय अजमेर-

गुजरात के बादशाह बहादुरशाह के आक्रमण से और तीसरी बार बादशाह अकबर के आक्रमण से चित्तौड़ में जौहर हुआ। हजारों राजपूत रमणियों ने अग्निकुण्ड में अपनी आहूति दे दी। गढ़ के द्वार खोल दिए गए, घमासान युद्ध में चित्तौड़गढ़ की रक्षा में लगी मेवाड़ी सेना वीरगति को प्राप्त हुई और अकबर ने गढ़ में प्रवेश कर अपने जीवन का पहला और अंतिम कत्लेआम किया तथा चित्तौड़ में अपना किलेदार नियुक्त कर वापस अपनी राजधानी आगरा चला गया। इस युद्ध में अद्‌भुत शौर्य प्रदर्शित कर वीरगति को प्राप्त हुए मेड़ता के राव जयमल (मीराँ का चचेरा भाई) और मेवाड़ के एक ठिकाने आमेट के सरदार पत्ता की हाथी सवार मूर्तियाँ बनवाकर अकबर ने अपने आगरा के किले के मुख्य द्वार पर लगवाई, पता नहीं ये उनकी वीरता के प्रति सम्मान में थी अथवा चित्तौड़-विजय के स्मारक के रूप में थी। बाद में औरंगजेब ने इन मूर्तियों को नष्ट करवा दिया। इस अनुकरण पर बनी जयमल-पत्ता की हाथी-सवार मूर्तियाँ अभी भी बीकानेर के जूनागढ़ के मुख्य द्वार पर देखी जा सकती हैं। चित्तौड़ पर विजय के बाद रणथंभोर, कालिंजर, जोधपुर, बीकानेर,जैसलमेर इत्यादि राजपूत राज्यों ने भी अकबर की अधीनता स्वीकार कर अपनी पुत्रियों के डोले अकबरी हरम में भेज दिए।

अबकर ने मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ पर कब्जा कर लिया था परंतु पूरे मेवाड़ पर उसका अधिकार नहीं हो सका था। मेवाड़ का विशाल पर्वतीय अंचल महाराणा उदयसिंह के अधीन था। राजपीपल्या, फिर अपने बसाए नगर उदयपुर (जिसे बसाकर राणा उदयसिंह ने महाराणा उपाधि धारण की थी, फिर मेवाड़ के शासक राणा की जगह महाराणा कहे जाने लगे) और फिर कुंभलगढ़ में रहने के बाद राणा उदयसिंह ने 1570 ई. में गहन पर्वतीय अंचल में स्थित गोगूंदा को राजधानी बनाया। 1572 ई. में महाराणा उदयसिंह की मृत्यु के बाद 24 फरवरी 1572 ई. को प्रताप का राज्याभिषेक हुआ। कूटनीतिज्ञ अकबर ने क्रमशः मानसिंह, राजा भगवानदास और टोडरमल को संधि प्रस्ताव देकर भेजा परंतु राणा प्रताप ने अधीनता स्वीकार करने से मना कर दिया। यहां तक कि अकबर को केवल अपना बादशाह मान लेने का प्रस्ताव भी प्रताप ने अस्वीकार कर दिया। जब सभी प्रयास असफल रहे तो 1576 ई. में स्वयं अकबर अजमेर आया तथा राजपूतों को राजपूतों से भिड़ाने की कूटनीति के तहत मानसिंह और आसफ खाँ के सेनापतित्व में प्रताप पर सेना भेज दी और 18 जून 1576 ई. को इतिहास प्रसिद्ध हल्दीघाटी का युद्ध हुआ जो किसी की जय-पराजय के बिना केवल आधा दिन में समाप्त हो गया। प्रताप को पराजित करने में नाकाम होकर अकबर अंततः 12 मई 1577 को वापस आगरा लौट गया।

अबकर के लौट जाने पर प्रताप ने चित्तौड़ व उदयपुर को छोड़कर समस्त मेवाड़ को मुगलों से मुक्त करा लिया। इसके पश्चात अकबर ने तीन बार शाहनवाज खाँ को और 1585 में राजा जगन्नाथ कछवाहा के नेतृत्व में प्रताप पर सैनिक अभियान भेजे परंतु ये असफल रहे। इसके बाद अकबर ने समझ लिया कि महाराणा प्रताप को अधीन करना संभव नहीं है। 1585 के बाद प्रताप ने उदयपुर को भी मुगलों से मुक्त करा उसे व्यविस्थत रूप से बसाया और गहन पर्वतीय अंचल में स्थित चावंड नामक स्थान को अपनी राजधानी बनाया जो 1885 से 1615 तक मेवाड़ की राजधानी रहा।

प्रताप महान के चारित्र्य के कुछ प्रसंग यहां उल्लेखनीय हैं -अकबर का एक दरबारी लेखक अब्दुल कादिर बदायूनी हल्दीघाटी के युद्ध में मुगल सेना में था। उसने युद्ध के आँखों देखे हाल में एक जगह लिखा है, मैंने आसफ खाँ से कहा कि यहाँ तो दोनों तरफ राजपूत हैं, कौन किधर है पता नहीं चल रहा तो आसफ खाँ ने कहा तुम वो तीर चलाते रहो, जिस तरफ का भी राजपूत मरे, काफिर मरेगा और फिर वह लिखता है कि राजपूतों की इतनी भीड़ थी कि हमारा एक भी तीर खाली नहीं गया। जबकि महाराणा प्रताप की सेना में भी मुस्लिम (पठान) थे परंतु वहाँ यह कट्टर साम्प्रदायिक नजरिया था ही नहीं। मुस्लिम शासक गैर मुस्लिमों पर क्रूरता करने का कोई

भी मौका नहीं छोड़ते थे जबकि गोगूंदा के मार्ग से पिंडवाड़ा जा रहे हज-यात्रियों के एक दल को प्रताप ने सुरक्षा प्रदान की थी। 1576 ई. में मानसिंह ने आक्रमण के लिए हल्दीघाटी से कुछ दूर पड़ाव डाला था। एक दिन प्रताप को सूचना मिली कि वह शिकार के लिए अपने शिविर से दूर है और उसे मार देने का यह अच्छा मौका है लेकिन प्रताप ने युद्ध स्थल के अलावा शत्रु पर प्रहार करने से मना कर दिया। 1580 में अकबर ने अब्दुर्रहमान खानखाना को अजमेर का सूबेदार नियुक्त किया था। वह जब सेना सहित वसरपुर (शेरपुर) पहुंच कर शिविर लगाए हुआ था तो महाराणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह ने आक्रमण कर शिविर को लूट लिया और स्त्रियों को बंदी बना कर ले आया। प्रताप को इसका पता चला तो उसने तत्काल स्त्रियों को ससम्मान वापस भेजा। इससे रहीम खानखाना का हृदय प्रताप के प्रति सम्मान से भर गया।

महाराणा प्रताप द्वारा बादशाह अबकर को पत्र लिख कर अधीनता स्वीकार करने से संबंधित एक भ्रांतिपूर्ण किंवदंती प्रचलित हो गई। अकबर ने तीन बार शाहनवाज खाँ को और फिर 1585 में राजा जगन्नाथ कछवाहा को प्रताप को पकड़ने या मारने को भेजा। इनके लगातार आक्रमणों से प्रताप को सपरिवार पहाड़ों में जगह बदल-बदल कर झोपड़ियों, गुफाओं में रहना पड़ा। इस अत्यंत कष्टपूर्ण परिस्थिति को लेकर एक भ्रांतिपूर्ण किंवदंती प्रचलित हो गई जिसके आधार पर जेम्सटॉड ने अपने ग्रंथ Annals and Antiquities of Rajasthan (राजस्थान का वर्ष-क्रमिक इतिहास और पुरावशेष) में लिख दिया कि जब बच्चे भूख से तड़पने लगे तो राणा प्रताप की रानी ने जंगली अन्न की रोटी बच्चों को बनाकर दी। पुत्री के हाथ की रोटी वनबिलाव ले भागा तो वह चीख पड़ी। इससे विचलित होकर प्रताप ने अधीनता का पत्र लिखकर अकबर को भेज दिया। अकबर ने दरबार में इसकी सूचना बड़े हर्षोल्लास से दी। तब उसके दरबार में बीकानेर के राजा रायसिंह (जिसके पिता राव कल्याणमल ने अपनी पुत्री का विवाह अकबर से कर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी) के प्रतिनिधि उसके अनुज कवि पृथ्वीराज राठौड़ ने इस आशय के दो दोहे लिखकर राणा प्रताप को भेजे कि हे पातल (प्रताप) तुमने अपने मुंह से अकबर को अपना बादशाह कह दिया है, अतः मैं स्वयं को अपनी मूछों के बल धरती पर पटक दूं या शरीर में कटार घुसा लूं? इस किंवदंती को लेकर राजस्थानी के प्रतिष्ठित कवि कन्हैयालाल सेठिया द्वारा रचित, लोकप्रिय हुई कविता 'पातल-पीथल' (प्रताप-पृथ्वीराज) की पंक्तियां हैं - अरे घास री रोटी ही/ बन बिलावड़ो ले भाग्यो/ नान्यूं सो अमर्‌यो चीख पड़यो/ राणा को दुख जाग्यो। यहाँ टॉड के इतिहास में लिखित पुत्री की जगह पुत्र अमरसिंह है जिसको नान्यूँसो (छोटासा) लिखा गया है जबकि जिस समय की यह घटना बताई जा रही है उस समय अमरसिंह विवाहित था। अमरसिंह तथा उसकी पत्नी के बीच हुआ एक वार्तालाप प्रसिद्ध है कि इस घोर कष्टपूर्ण भागमभाग से तो अच्छा है कि अकबर की अधीनता स्वीकर कर ली जाए। संयोगवश यह वार्तालाप महाराणा ने सुन लिया जिससे उसके तन-बदन में जैसे आग लग गई, उसने तत्काल घोषणा की कि अमरसिंह मेरा उत्तराधिकारी नहीं होगा। हालांकि बाद में अमरसिंह के क्षमा माँगने तथा सरदारों के समझाने पर राणा ने अपना निर्णय वापस लिया।

यह सही है कि बादशाह अकबर से संघर्ष में राणा प्रताप को अनेक कष्टों एवं विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। शाहबाज खाँ और जगन्नाथ कछवाहा के ताबरतोड़ हमलों ने उसे गहन पहाड़ी अंचल में रहने पर मजबूर कर दिया था और एकाधिक बार यह स्थिति भी आई कि एक पहाड़ पर भोजनादि की तैयारी की गई और मुगल सेना का आक्रमण हो गया, अतः सब कुछ छोड़ दूसरे पहाड़ पर जाना पड़ा। परंतु यहाँ दो बातें हैं, एक तो यह कि उसके निष्ठावान प्रधानमंत्री भामाशाह के पास राज्य का कोष सुरक्षित था और उसने अपना निजी खजाना भी राणा को अर्पित कर दिया था तथा कुम्भलगढ़ से ऋषभदेव और देबारी से सिरोही तक के

बीच का 6300 मील का क्षेत्र प्रताप के अधीन था जिसमें प्रचुर धन-धान्य व फल आदि उपलब्ध थे और फिर प्रताप के लिए जीवन न्यौछावर करने वाले निष्ठावान सैनिक, सरदार व प्रजाजन, विशेषकर भील लोग हर समय उसके साथ रहते थे। ऐसे में प्रताप की पत्नी द्वारा घास या जंगली अन्न की रोटी बनाना तर्क संगत नहीं है। दूसरी बात यह कि मान लीजिए ऐसी विकट परिस्थितियां आ भी गई थी तो यह तो कल्पनातीत है कि अपनी स्वाधीनता व स्वाभिमान के लिए कष्टों को सहर्ष स्वीकार करने वाले प्रताप जैसे कष्टसहिष्णु, धीर-वीर, पराक्रमी योद्धा ने पत्र लिख कर अधीनता स्वीकार कर ली हो? पृथ्वीराज राठौड़ द्वारा लिखे गए दोहे इस कवि की अंतर्व्यथा हो सकते हैं, परंतु प्रताप के अकबर की अधीनता स्वीकार करने पर अपने तन में कटार घोंप लेने वाले अबकर के दरबारी राजपूत होते तो इतिहास कुछ और होता।

जेम्स टाड के इतिहास ग्रंथ का राजस्थान के इतिहास लेखन में प्रारंभिक महत्व है, परंतु अब सिद्ध हो चुका है कि जेम्स टाड के इतिहास ग्रंथ में काफी-कुछ सुनी सुनायी बातों एवं किंवदंतियों पर अवधारित है। उक्त प्रताप द्वारा पत्र लिखने के प्रसंग में राजस्थान के सुप्रसिद्ध विद्वान इतिहासकार डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का कथन प्रमाण है , "टॉड द्वारा दिया गया विवरण यदि सही होता तो अबुल फजल (अकबर का दरबारी इतिहासकार) जो कि अकबर का खुशामदी इतिहासकार था इसे काफी बढ़ा-चढ़ा कर लिखता। उसने या अन्य किसी फारसी इतिहासकार ने महाराणा प्रताप की इस दयनीय स्थिति तथा उनके विचलन का उल्लेख अपने किसी ग्रंथ में नहीं किया।"

प्रताप ने आजीवन अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की। आन-बान-शान के धनी, स्वत्व रक्षा, स्वातंत्र्य-प्रेम, देश-प्रेम, जातीय गौरव के उदाहरण बने इस महावीर का देहांत सन् 29 जनवरी, 1597 में धनुष की प्रत्यंचा खींचते समय आंत चढ़ने के कारण 57 वर्ष की आयु में हो गया। देह का अंत हो गया पर महाराणा प्रताप नाम अमर हो गया जिसका जीवन-चरित्र अभी भी 482 वर्ष बाद भी प्रेरणा दे रहा है, निस्संदेह महान है प्रताप। बादशाह अकबर को भारी अफसोस रहा कि इस वीर को मैं अधीन नहीं कर सका। अकबरी दरबार के योद्धा कवि रहीम खानखाना का उद्‌गार प्रसिद्ध है, 'इस दुनिया में सभी चीजें खत्म होने वाली हैं। धन-दौलत खत्म हो जाएंगे लेकिन महान इंसान के गुण हमेशा जिंदा रहेंगे। प्रताप ने धन-दौलत को छोड़ दिया लेकिन अपना सिर कभी नहीं झुकाया। हिंद के सभी राजाओं में अकेले उसने अपना सम्मान कायम रखा।'

- डॉ. बाबूलाल शर्मा

प्रकृति जीवन का स्रोत और उसका आधार है,
प्रकृति और पर्यावरण की रक्षा मानव जीवन की अनिवार्यता है।

सोच अच्छी होनी चाहिए क्योंकि नजर का इलाज तो मुमकिन है
पर नजरिये का नहीं।

बाहर की चुनौतियों से नहीं हम अपने अंदर की कमजोरियों से हारते हैं।

हल्दीघाटी का युद्ध

अजित बच्छावत

(1567 ई. में मुगल बादशाह अकबर ने मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ पर, महाराणा उदयसिंह के मेवाड़ के गहन पर्वतीय अंचल में चले जाने के बाद कब्जा कर लिया। कुंभलगढ़ और फिर गोगूंदा को मेवाड़ की राजधानी बना कर रह रहे उदयसिंह के 1572 ई. में देहांत के पश्चात उसका स्वाभिमानी सुयोग्य पुत्र प्रताप मेवाड़ का महाराणा हुआ जिसने आजीवन अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं करते हुए मुगल सेना से निरंतर संघर्ष किया। आमने-सामने का अंतिम युद्ध 1576 में हुआ जो 'हल्दीघाटी का युद्ध' नाम से विश्वविख्यात है। प्रसिद्ध है कि अमेरिकी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन भारत के दौरे पर आने लगे तो उनकी माँ ने उनसे हल्दीघाटी की मिट्टी लाने के लिए कहा। प्रस्तुत लेख I an Austin की पुस्तक Mewar : The World's Longest Serving Dynasty पर आधारित है - संपादक)

3 अप्रैल 1576 ई. को मुगल बादशाह अकबर का सिपहसालार आमेर का राजा मानसिंह अजमेर से प्रस्थान कर मांडलगढ़ पहुंचा और वहां दो महीने डेरा डाले रहा। तब तक और कई सेनानायक अपनी-अपनी सेना के साथ उसकी शक्ति और सैन्य संख्या बढ़ाने के लिये आ गये। उसे यह आशा थी कि इस अन्तराल में प्रताप दुर्गम पहाड़ियों के सुरक्षित स्थान से निकलकर यहां आ जायेगा।

अपने भेदियों से मानसिंह की स्थिति को समझकर प्रताप कुंभलगढ़ से नीचे बलीचा के बेस कैम्प में आया और अपने सरदारों से सलाह-मशविरा करने के साथ ही उनमें जोश भी जगाया। वह उत्तर दिशा में आगे बढ़कर मांडलगढ़ में विश्राम कर रही मुगल सेना पर हमला कर देना चाहता था। उसके सभी पुराने अनुभवी सरदारों ने आगाह किया कि खुले मैदान में लड़ना घातक होगा, अपेक्षाकृत बड़ी मुगल सेना से युद्ध अरावली की विषम व संकुचित मार्ग वाली पहाड़ियों के बीच होना चाहिये। ये लोग आमने-सामने की लड़ाई की बजाय छापामार गुरिल्ला युद्ध के पक्षधर व इसमें निपुण थे और सीमित युद्ध क्षेत्र में तलवार और भालों से लड़ने के अभ्यस्त थे।

वस्तुतः प्रताप को हर प्रकार की अनुकूलता की आवश्यकता थी क्योंकि उसका सामना बहुत ही बलवान शत्रु से होने वाला था। कुछ लड़ाकू हाथियों के अलावा राजपूत अश्वारोहियों व पैदल भील सैनिकों समेत उसकी कुल सैन्य संख्या मात्र तीन हजार ही थी जिनके पास

अपनी पसंद के परम्परागत हथियार तलवार, भाले और तीर-धनुष थे। दूसरी ओर सात हजार सैन्य बल वाले शत्रु के पास थे- घुड़सवार सैनिकों के दल जिनमें अधिकतर स्वधर्म त्यागी राजपूत थे, मैचलॉक बांदूकों से लैस पैदल सैनिक, तोपखाना, उंटों पर रखी घूमने वाली बन्दूकें, सुरक्षा पंक्ति के लिये महावत सहित सूंड पर तेज धारदार कटार बांधे हाथी जिनके हौदे पर कवच से सुरक्षित सेनानायक।

शाही सेना दक्षिण दिशा में बलीचा की ओर बढ़ने लगी जहां उसके गुप्तचरों ने प्रताप को आखिरी बार देखा था। बनास नदी के उत्तरी किनारे पर बसे मोलेला गांव पहुंचकर मुगल सेना ने फिर कुछ दिन विश्राम किया। नदी के पार खमनोर शहर था, जिसके बाद अरावली की पर्वतमाला शुरू होती थी, जिसकी खड़ी तीक्ष्ण चट्टानें व कांटेदार झाड़ियां उसके लिये अवांछित बाधक थी। मुगल सेनापति मानसिंह के सामने अपनी मंजिल तक पहुंचने के कई मार्ग थे। एक मार्ग दक्षिण-पश्चिम की ओर से बाधक पहाड़ी के किनारे-किनारे, दूसरा-दक्षिण पूर्व की ओर से पर्वत शृंखला का पार्श्ववर्ती मार्ग था। मगर सबसे सीधा मार्ग बलीचा के बिल्कुल दक्षिण की ओर से था, जो एक संकीर्ण पहाड़ी दर्रे, बादशाही बाग और एक खेतिहर गांव हल्दीघाटी से होकर गुजरता था। मानसिंह ने यहीं मेवाड़ी सेना पर आक्रमण का निश्चय किया। इस बीच पहाड़ की चोटी से निगरानी करने वाले भीलों ने महाराणा को मुगल सेना के मोलेला तक पहुंचने की सूचना दे दी।

इतिहासकार जेम्स टॉड ने हल्दीघाटी को मेवाड़ का थर्मोपोली कहा है। (Thermopylae) यूरोप में पर्वत और समुद्र के बीच एक संकुचित मार्ग का नाम है जो ई.पू. 480 में लड़े गये एक युद्ध के लिये प्रसिद्ध है, जिसमें मात्र छह हजार यूनानियों ने Xerxes की विशाल पर्सियन सेना का कड़ा मुकाबला करते हुये लगातार तीन दिनों तक प्रतिरोध किया। मगर मेवाड़ का थर्मोपोली युद्ध मात्र आधे दिन में ही निपट गया।

18 जून 1576 के सूर्योदय से पूर्व ही मुगल सेना ने आगे बढ़ना शुरू कर दिया। पौ फटने के साथ ही भील निगहबानों ने देखा कि विशाल मुगल सेना नदी पार करके खमनोर के निकट एकत्र हो रही है जिसकी एक टुकड़ी दाहिनी ओर से तथा दूसरी बायीं ओर से आगे बढ़ रही है और मानसिंह के नेतृत्व में मुख्य सेना सीधे पहाड़ी दर्रे हल्दीघाटी की ओर आ रही है। सबसे आगे आक्रमण का आरंभिक असर पैदा करने वाले चूजा-ए-हरावल कहे जाने वाले पांच सौ पैदल सैनिक थे। उनके पीछे प्रत्याक्रमण को झेलने व उसकी धार कम करने के लिये दुर्दान्त तीरंदाजों की टुकड़ी थी। उनके पीछे तीन दल थे-- मानसिंह राजपूतों समेत शाही घुड़सवारों के मध्य एक सुसज्जित हाथी पर सवार था, उसके दाहिनी तरफ अहमद खान के नेतृत्व में सय्यद योद्धाओं की सेना तथा बायीं तरफ सीकरी के शेखजादों की पलटन थी जिसका अगुआ मुल्ला काजी खान था। पीछे नदी के निकट एक सुरक्षित सेना को रखा गया था।

प्रताप सिंह अपनी सेना सहित हल्दीघाटी के मध्य में आकर आक्रमण के उचित अवसर की ताक में बैठ गया। योद्धा के पूरे वेष में सफेद बागे पर सिर और शरीर पर कवच धारण कर लेने पर इस आख्यानिक योद्धा का रूआब पूरे शबाब पर आ गया था। वह बड़ी शान से अपने सफेद अरबी घोड़े चेतक पर सवार था। अनेक लड़ाइयों में चेतक ने उसका साथ दिया था। अपेक्षाकृत अधिक लंबे व तगड़े चेतक को रंग-बिरंगा रक्षा आवरण पहनाया गया था जिसमें इस प्रकार का मुखौटा भी था कि उसे देखकर किसी हाथी का आभास होता। हाथी मुख सदृश्य मुखौटा शत्रु सेना के अश्वों को भयभीत करने के साथ ही इस धारणा के तहत भी था कि वयस्क हाथी शिशु हाथी को क्षति नहीं पहुंचाते। प्रताप अपने एक हाथ में अपनी विशाल तलवार और दूसरे में गहरे लाल रंग की पृष्ठभूमि में सुनहरे सूर्य देव की छवि वाली मेवाड़ की पताका थामे था।

दो घंटे बीत गये, सूर्य का ताप बढ़ने लगा, पसीने

से तर-बतर राजपूत योद्धा आंखें गड़ाये सामने अनगिनत घुमावों वाले मार्ग को देख रहे थे। मेघावृत विद्युत के समान मुगल सेना निकट आ रही थी, धरती धूजने लगी, वृक्षों पर धूल का एक बादल छा गया, सुबह के सूरज की रोशनी उससे छन कर आ रही थी।

अपनी पीली मिट्टी के कारण हल्दीघाटी नाम से मशहूर संकुचित दर्रे में सबसे पहले प्रवेश किया मुगल सेना के 500 पैदल योद्धाओं व धनुष ताने तीरंदाजों ने, उनके ठीक पीछे अश्वारोही सैनिकों के दो दल थे। महाराणा ने अपने एक अफगान सेनानायक हाकिम खान सूर को पैदल योद्धाओं व उनके पीछे आ रहे घुड़सवारों पर आक्रमण करने का आदेश दिया और स्वयं एक दल लेकर काजी खान के नेतृत्व वाली विशाल टुकड़ी पर पिल पड़ा और उसके हाथियों ने मुगल सेना की पिछली पंक्ति पर हमला कर दिया।

मुगल सेना में चारों ओर अफरा-तफरा मच गयी। मेवाड़ी सेना पर बरसाये गये मुगल तीरंदाजों के तीर मुगल पैदल योद्धाओं को ही लगने लगे। वे अचंभित होकर विषम चट्टानों से भरी ऊबड़-खाबड़ भूमि पर गिरने लगे, कंटीली झाड़ियों के कलमुंहे कांटों से उनके कपड़े व शरीर बिंध गये और वे बिना सोचे-समझे अपने ही तीरंदाजों से भिड़ गये। चारों ओर हाहाकार मच गया, घोड़े हिनहिनाने लगे, तलवारें चमक उठी, बन्दूकें आग उगलने लगी, धनुष टंकार उठे, वीर युद्धघोष करने लगे और कायर चीत्कार। मुगल सेना के राजपूत सिपाहियों का एक दल पीछे मुड़ कर दाहिनी ओर से आ रही अपनी सेना की टुकड़ी की तरफ भागने लगा। उस टुकड़ी में मौजूद मुगल इतिहासकार अल बरूनी ने शाही सेना के एक अधिकारी से पूछा कि मुगल सेना और मेवाड़ी सेना के राजपूत सैनिकों में अन्तर कैसे करें? उसे फौरन जवाब मिला कि इसकी फिक्र मत करो। किसी भी सेना के राजपूत की मौत से हमारा और इस्लाम का फायदा है।

प्रताप के नेतृत्व वाला दल दर्रे से निकलकर काजी खान और सीकरी के शेखजादों की टुकड़ी से भिड़ गया। घमासान युद्ध में भयंकर नरसंहार हुआ, मुगल सेना का हौसला पस्त हो गया और वो भागने लगी। एक उल्लेख के अनुसार भागते हुए शेखों में से एक के बैठक के स्थान पर तीर लगा और वह जिन्दगी भर के लिए शर्मनाक घाव खा गया। काजी खान अपना दाहिना हाथ जख्मी होने तक डटा रहा, फिर तलवार पकड़ने में असमर्थ होने पर भाग जाने में ही अक्लमंदी समझी और शीघ्रता से अपने भगोड़े साथियों में शामिल हो गया। उन्हें भागते देख सैय्यदों को भी भागना ही उचित लगा। मेवाड़ियों के प्रथम आक्रमण पर ही मैदान छोड़कर भागने वाले मुगल सैनिक नदी से सोलह कि.मी. दूर सुरक्षित सेना को सामने पा कर ही रुके, तब सेनानायक ने उन्हें चेताया कि अकबर को उनके शर्मनाक पलायन का पता चलने पर सबको सजा-ए-मौत दे देगा। इस चेतावनी पर वे रुके और पुनः आक्रमण के लिये तैयार होने लगे।

चेतक के तथा स्वयं के जख्मी होने के बावजूद महाराणा ने मेवाड़ की ध्वजा को उन्नत रखते हुये सेना सहित आगे बढ़ते हुए शत्रुओं को दूर तक खदेड़ दिया।

मेवाड़ी हाथियों को रोकने के लिये मुगलों ने अपने हाथियों की एक दीवार खड़ी कर दी। एक मुगल महावत गोली लगने से मर गया। उसका अनियंत्रित हाथी दिशाहीन होकर अपने रास्ते में आनेवालों को कुचलते हुए दौड़ने लगा। विरोधी हाथियों ने उसे कड़ी टक्कर दी। दो मुगल हाथियों ने प्रताप के प्रिय हाथी रामप्रसाद पर हमला कर दिया। वह अकेला ही दोनों का अच्छी तरह मुकाबला कर रहा था तभी उसके महावत को तीर लगा और उसकी मृत्यु हो गयी। इस मौके का फायदा उठाकर मुगलों के एक महावत ने छलांग लगाकर रामप्रसाद के महावत का स्थान ले लिया और उसे नियंत्रित कर मुगलों के खेमे में ले गया।

सभी हमलावरों से लड़ते हुए प्रताप और उसके साथी तोपखाने पर कब्जा करने तथा मानसिंह से सीधी मुठभेड़ करने के लिये शत्रु सेना के मध्य में चले गये।

कर्णभेदी कोलाहल के बीच एक परिचित हुंकार

सुनकर उधर मुड़ने पर प्रताप ने देखा कि उसके एक साहसी सेनानायक सरदारगढ़ के डोडिया भीम का घोड़ा बहुमूल्य आभूषणों से सुसज्जित एक विशाल हाथी की तरफ कुलांचें भर रहा है। उस हाथी के हौदे में शाही सेना का सेनापति खड़ा होकर व्यग्रता से अपने सैनिकों को मेवाड़ी योद्धाओं के तूफान को रोकने का आदेश दे रहा था। मुस्लिम रक्षकों ने भीम के एकाकी आक्रमण को अवरुद्ध करने के लिए उसे चारों तरफ से घेर लिया। वस्तुतः उस हाथी पर राजा मानसिंह था। हाथी से कुछ दूरी पर ही भीम ने रकाब पर खड़े होकर अपना भाला पूरे वेग से मानसिंह पर फेंक दिया। मानसिंह ने झुककर अपने आपको उस वार से बचा लिया। अब इस राजपूत योद्धा ने अपनी तलवार निकाल कर अपने निकट के मुगल घुड़सवारों को काटना शुरू कर दिया मगर शीघ्र ही उसकी गौरवशाली इहलीला समाप्त हो गयी।

यह देखकर महाराणा ने चेतक को उस तरफ मोड़ कर मानसिंह के निकट शीघ्रता से पहुंचने के लिए एड़ लगायी। शत्रुओं के तीर, तलवार व भाले उसके जुनून को नहीं रोक पाये और वह सबको चीरता हुआ मानसिंह के बिल्कुल नजदीक पहुंच गया। चेतक एक बाधा से उलझकर हाथी के लौह कवच से टकरा गया, मगर तुरंत संभल कर उस विशालकाय हाथी के सामने पिछली टांगों पर खड़ा हो गया। उसके सामने वाले पैर हाथी के बाह्य दांतों पर टिक गए। मानसिंह आंशिक रूप से महावत के पीछे छुपा हुआ था। प्रताप ने भाले से प्रहार कर दिया, जिसने महावत के शरीर को बेधते हुए हौदे को क्षतिग्रस्त कर दिया, महावत की तत्काल मृत्यु हो गयी।

मानसिंह कहीं नजर नहीं आ रहा था, तब यह समझकर कि मैंने उसे भी मार दिया प्रताप ने जयघोष किया। निरंकुश हाथी घबराकर घूमने लगा। उसकी सूंड से बंधी कटार ने चेतक की पिछली टांग की शिराओं को काट दिया। इस बात से अनजान प्रताप ने अपने साथियों के पास जाने के लिये घोड़े को दौड़ाया। चेतक केवल तीन ही टांगों का प्रयोग कर पा रहा था मगर उत्तेजनावश वह तीव्र गति से दौड़ने लगा।

उधर मानसिंह सुरक्षित था, दरअसल प्रताप का प्रचण्ड आक्रमण देखकर वह हौदे के कटघरे में छुप गया था। कुछ क्षणों बाद वह घबराहट में मुगल सेना की ओर भाग रहे अपने हाथी की गरदन पर आकर उसे नियंत्रित करने का प्रयत्न करने लगा। इधर अब तक अपने सेनापति की रक्षा में रत मुगल अश्वारोहियों ने प्रताप को घेर लिया। अपने शारीरिक बल और तलवार चलाने की प्रवीणता के लिये प्रसिद्ध एक मुगल सरदार बहलोल खान ने प्रताप पर हमला किया। अल्ला हो अकबर की गर्जना के साथ जब उसने अपनी घातक तलवार प्रताप के सर पर लहरायी तो उसने अपना बचाव कर प्रत्याक्रमण किया। लोहे से लोहा टकराया, चिंगारियां निकलने लगी, आखिर प्रताप ने पूरी शक्ति लगाकर एक ऐसा वार किया कि उसकी तलवार ने मक्खन पर चले गर्म चाकू की तरह उस शक्तिशाली मुगल सरदार का सर कलम करते हुए उसके घोड़े के भी दो टुकड़े कर दिये।

सारे मुगल सरदार अब प्रताप की ही ओर उमड़ पड़े। चेतक अब लंगड़ाने और लड़खड़ाने लगा। प्रताप ने एक चेतावनी सूचक चिल्लाहट सुनी- पीछे देखो, उस सफेद घोड़े के सवार को। जब उसने निगाहें पीछे फेरी तो देखा कि एक कृपाण उसकी गर्दन पर लहरा रही है। प्रताप ने तुरन्त अपनी खून से सनी तलवार पीछे घुमाई तो उस पर लहराने वाला हथियार हमलावर के हाथ से छिटक कर दूर जा गिरा। तब दुबारा हमला करने के लिये वह मुगल अपनी कटार निकाल ही पाया था कि राजपूती तलवार ने उसका सर धड़ से अलग कर दिया। इस प्रकार कई हमलों का सामना कर उन्हें विफल करते हुये महाराणा मेवाड़ी सेना की ओर बढ़ने लगा जो मुगलों को भागने के लिए बाध्य कर रही थी।

अचानक शाही सेना की पिछली पंक्ति से भेरी और नगाड़ों की तीव्र ध्वनि आने लगी। मेवाड़ी सेना ने देखा कि रक्त और धूल से सने शवों के समुद्र को पार करते हुए मुगलों की सुरक्षित सेना मुख्य रणक्षेत्र

में प्रवेश कर रही है। महाराणा को यह देखकर बड़ी निराशा हुई कि जिस मानसिंह को वह मृत समझ रहा था वो उन युद्ध क्लान्त घुड़सवारों और सैनिकों के साथ सही सलामत आ रहा था।

एक बार तो प्रताप उस शत्रुसेवी राजपूत मानसिंह को समाप्त करने का दूसरा प्रयास करने को उद्धत हुआ, जिसमें स्वयं उसकी भी जान जा सकती थी, जो एक गौरवशाली शहादत होती। परंतु इस निर्णय के क्षणांश में ही उसे यह ध्यान में आया कि अकबर द्वारा मेवाड़ के अधिग्रहण के प्रयास के प्रतिरोध का सारा दारोमदार उसी पर है और इस तरह गौरवशाली शहादत देकर वह मुगलों को मेवाड़ पर आधिपत्य करने से नहीं रोक सकता। उसी समय महाराणा के सुरक्षित स्थान पर पहुंचने तक मुगलों को उलझाये रखने के निश्चय के साथ सादड़ी के सरदार झाला मान ने प्रताप के हाथ से मेवाड़ की ध्वजा झपट कर सविनय चित्कार कर कहा-- शीघ्रता से सुरक्षित स्थान पर चले जाइये। इच्छा के विरुद्ध भावनाओं को काबू में कर बुद्धि से कार्य करते हुए प्रताप ने रणक्षेत्र से प्रस्थान करते हुए अपने सरदारों को घायल सैनिकों को कोलियरी गांव ले जाने का आदेश दिया जहां उनके उपचार की व्यवस्था थी।

प्रताप सहित मेवाड़ की सेना के पहाड़ियों में लुप्त होने तक झाला मानसिंह मेवाड़ की सूर्य-ध्वजा लहराते हुए अपने साथियों को शत्रु के प्रत्याक्रमण का मुकाबला करने के लिए प्रेरित करता रहा और अंततः स्वामी की रक्षा के निमित्त शहीद हो गया।

कुछ दूर जाकर प्रताप एक उभरी हुई चट्टान पर रुका। उसने पीछे मुड़कर धूल के उमड़ते बादल को देखा जिसके कारण युद्ध-भूमि का विकराल दृश्य तो नजर नहीं आ रहा था परन्तु गोलियां चलने की, तलवारें टकराने की, जयघोष व करुण क्रंदन की मिश्रित ध्वनियां एक कोलाहल के रूप में सुनाई दे रही थी।

18 जून 1576 को आधे दिन चलकर यह युद्ध बिना किसी निर्णय के समाप्त हो गया। एक सेवक ने आकर प्रताप के हाथ से चेतक की लगाम लेकर थाम ली और धीरे-धीरे चलने लगा। चेतक बुरी तरह लंगड़ा रहा था और अत्यधिक रक्त बह जाने के कारण प्रताप पर भी मूर्च्छा छा रही थी। उसे तलवार, भाले और गोली के सात गहरे घाव लगे थे। वे लोग एक पहाड़ी नाले के किनारे की चट्टान पर पहुंचे तो दर्द से बेहाल चेतक अगली टांगों को कड़ा करके निश्चल होता जा रहा था। तभी घोड़े की टापों की आवाज सुनकर प्रताप ने गर्दन घुमायी तो देखा कि दो मुगल सरदार तलवार लहराते हुए उसकी ओर सरपट चले आ रहे हैं। महाराणा ने अपने घोड़े को एड़ लगाई। यदि यह कहा जाय कि पशुओं में कर्त्तव्यपरायणता होती है तो वीर चेतक ने उस दिन इसका प्रदर्शन किया। अपनी सारी पीड़ा को भुलाकर सारी शक्ति एकत्र कर चेतक ने एक ही छलांग में अपने सवार को नाले के उस पार पहुंचा दिया। प्रताप घोड़े से उतर गया और कोमलता से उसका कवच उतार दिया। स्वामी को सुरक्षित स्थान पर पहुंचाने का कर्त्तव्य पूर्ण करने के पश्चात असहनीय पीड़ा के कारण चेतक धरती पर लोटकर अपनी बड़ी-बड़ी आंखों से प्रताप को निहारने लगा और कुछ ही क्षणों में अपने प्राण त्याग दिये।

चेतक के निढाल होते सर को थामे
प्रताप उसकी आंखों में झांक रहा था
जो कुछ कहना चाहती थी।

प्रताप का गला अवरुद्ध हो गया। कुछ क्षणों के बाद उसने सर उठाकर देखा तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसका छोटा भाई शक्तिसिंह अपने घोड़े अंकारा की लगाम थामे वहां खड़ा था।

भाई प्रताप को युवराज घोषित करने का विरोध करने के कारण पिता उदयसिंह द्वारा मेवाड़ से निकाल दिये जाने पर शक्तिसिंह मुगल सेना में शामिल हो गया था। मेवाड़ पर हमला करने की अकबर की योजना को जान कर वह अपने पिता को सावधान करने चित्तौड़ गया था, मगर पिता के पास रुकने या अकबर के पास लौटने की बजाय वह

भैंसरोड़ जाकर वहां रहने लगा था। कालांतर में जब उसने मुगलों द्वारा पुनः मेवाड़ पर आक्रमण करने की खबर सुनी तो इस युद्ध का प्रत्यक्षदर्शी होने के लिये पास की पहाड़ी पर जा पहुंचा। वह चुपचाप निरपेक्ष भाव से सारी खूनी जंग देखता रहा। मगर जब उसने घायल घोड़े पर जख्मी प्रताप का पीछा करते दो मुगल सरदारों को देखा तो उसके खून में उबाल आ गया और उसने उन मुगलों को अपने भाले से ढेर कर दिया।

शक्ति ने अपने भाई को अपना घोड़ा लेने का अनुरोध किया। अतुलनीय स्वामिभक्त चेतक की याद ताजा रखने व उसके प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये उस बीहड़ दर्रे से होकर निकलने वाले मार्ग के किनारे एक छोटी छतरी बनायी गयी।

इस युद्ध से संबंधित और भी स्मारक हैं-- नीची दीवारों से घिरा एक क्षेत्र **राती तलाई** है जो अब यह स्थान हल्दीघाटी के छोटे से गांव के विद्यालय के खेल का मैदान है जिसके सामने एक धुंधले से नाम पट्ट पर **रक्त का तालाब** लिखा हुआ है। इसका नाम उस सुबह के नरसंहार का प्रतीक है जिसमें लगभग पांच सौ व्यक्ति निहत हुए तथा इससे दुगुने गंभीर रूप से आहत हुए, इसमें हिन्दू-मुस्लिम सभी शामिल थे।

हल्दीघाटी के युद्ध में महाराणा प्रताप सिंह का साथ देते हुए अनेक बहादूर योद्धाओं ने मातृभूमि की आन-बान-शान की रक्षा के लिये अपने प्राणों की आहूति दे दी। इनमें से कुछ का नामोल्लेख कर उनकी शहादत का सम्मान करते हुए उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करना हमारा परम कर्तव्य है। अफगान योद्धा हाकिम खान सूर मुगलों से नफरत करता था और प्रताप का विश्वस्त सेनाधिकारी था। मरते दम तक इसके हाथों से तलवार नहीं छूटी, आखिरकार इसे तलवार के साथ ही दफनाया गया। सलूम्बर का रावत कृष्णदास चुण्डा का वंशज और महाराणा लाखा का ज्येष्ठ पुत्र था। रावत नेतसी भी महाराणा का वंशज और 1567 में अकबर द्वारा चित्तौड़गढ़ के आखिरी विनाश से पूर्व अरावली की पहाड़ियों में महाराणा उदयसिंह का साथी था जो बाद में प्रताप की गुरिल्ला सेना में शामिल हो गया। देवगढ़ के रावत सांगा ने राणा विक्रमादित्य सिंह का वध कर और उसके उत्तराधिकारी बालक उदयसिंह को लेकर पन्ना धाय को कुंभलगढ़ चले जाने को मजबूर कर चित्तौड़ पर कब्जा करने वाले आततायी बनबीर को पदच्युत कर बालक उदयसिंह को मेवाड़ के सिंहासन पर विराजित करने में मुख्य भूमिका निभायी थी। सादड़ी के सरदार झाला बेड़ा को मानसिंह के नाम से भी जाना जाता था, उसका पिता मेवाड़ का सभासद था जो चित्तौड़ की रक्षा करते हुए शहीद हो गया। देलवाड़ा का झाला मानसिंह सज्जावत मेवाड़ में शहीद हुए जैतसिंह का पुत्र था। सरदारगढ़ के डोडिया भीम सिंह के पूर्वजों ने मेवाड़ पर आक्रमण करने वाले मुस्लिमों के विरुद्ध युद्ध लड़ा था और वह स्वयं भी महाराणा उदयसिंह की तरफ से लड़ते हुए गंभीर रूप से घायल हो गया था। अपने पुत्र नरहरिदास और दो भाइयों केनदास और रामदास के साथ हल्दीघाटी में शहीद हुए राठौड़ शंकरदास का पिता भी चित्तौड़गढ़ घेरे जाने पर शहीद हो गया था। ग्वालियर का भूतपूर्व राजकुमार राजाराम शाह, जिसकी राजधानी को मुगल बादशाह हुमायूं को परास्त करने वाले शेरशाह ने छीन ली थी। फिर अपनी राजधानी को पुनः प्राप्त करने की कोशिश करने पर वह सम्राट अकबर द्वारा परास्त कर दिये जाने पर उसने अपने दो पुत्रों सहित महाराणा उदयसिंह की शरण ले ली। राजाराम शाह और उसके दोनों पुत्र हल्दीघाटी में शहीद हुये। इनके अलावा अनेक राजपूत, भील और मुस्लिम सैनिक इस युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए, महाराणा प्रताप की तरफ से लड़ते हुए।

196, ओल्ड चाइना बाजार स्ट्रीट
कोलकाता-700001
मो.- 9038787437

●

हल्दीघाटी में तीन पीढ़ियों का बलिदान

सन 1526 ईस्वी में पानीपत के युद्ध में बाबर के विरुद्ध इब्राहिम लोदी के पक्ष में दोस्ती के चलते ग्वालियर के तोमर राजा मान सिंह के पुत्र विक्रमादित्य लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। उस समय उनके पुत्र राम सिंह तोमर लगभग 12 वर्ष के थे। ग्वालियर पर मुगलों का अधिकार हो गया। सन 1540 में राम सिंह तोमर ने चंबल के बीहड़ों से निकलकर ग्वालियर पर अधिकार की कोशिश की, लेकिन सफलता नहीं मिली। चंबल क्षेत्र के राजपूतों को लेकर सन 1558 तक अर्थात लगातार 18 वर्ष तक बारबार ग्वालियर पर कब्जे का प्रयास किया लेकिन जब सफलता नहीं मिली तो अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए मेवाड़ (चित्तौड़गढ़) चले गए। मेवाड़ के महाराणा उदय सिंह ने उन्हें पूरा सम्मान दिया और उनके मुगलों के विरुद्ध लगातार 18 वर्ष के संघर्ष को देखते हुए उन्हें 'शाहों का शाह' की उपाधि से सम्मानित किया और तभी से उन्हें रामशाह तोमर कहा जाने लगा। महाराणा ने उन्हें ग्वालियर के राजा से संबोधित किया और अंत तक इसी सम्मान का पात्र बनाए रखा। महाराणा उदयसिंह ने अपनी एक पुत्री अर्थात प्रताप की एक बहन की शादी रामशाह के बड़े पुत्र शालिवाहन से की।

सन 1572 में राणा उदय सिंह के स्वर्गवास के समय प्रताप को मेवाड़ के महाराणा की गद्दी पर बिठाने में राम शाह तोमर का महत्वपूर्ण योगदान रहा। 18 जून 1576 को दिल्ली के बादशाह अकबर के विरुद्ध हल्दीघाटी के युद्ध में भाग लेकर रामशाह ने मेवाड़ की सेना के दाएं भाग का नेतृत्व किया। तोमरों के साथ ही चंबल क्षेत्र के सैकड़ों भदोरिया, सिकरवार, जादौन एवं परमार राजपूतों ने भी इस युद्ध में भाग लिया था। युद्ध में राम शाह अपने तीन पुत्रों शालीवाहन, भवानी सिंह एवं प्रताप सिंह के साथ ही अपने प्रमुख सहयोगी दाऊ सिंह सिकरवार, बाबू सिंह भदोरिया एवं सैकड़ों अन्य राजपूतों के साथ शहीद हुए। राम शाह का पोता एवं शालीवाहन का पुत्र 16 वर्षीय बलभद्र सिंह भी इसी युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ।

हल्दीघाटी में जिस स्थान पर यह युद्ध लड़ा गया उसे रक्त ताल कहा जाता है। रामशाह तोमर एवं उनके पुत्रों की याद में सन 1624 ईसवी में मेवाड़ के महाराणा करण सिंह ने शिलालेख लगवाया एवं दो छतरियां बनवाई जो आज भी हल्दीघाटी में उस महान बलिदान की याद दिलाती है। जिसमें किसी वंश (तोमर) की तीन पीढ़ियों ने एक साथ एक ही दिन एक स्थान पर वीरगति प्राप्त की। इतनी बड़ी शहादत और बलिदान को भुला दिया गया और इतिहासकारों ने इतिहास में वह महत्व नहीं दिया जो दिया जाना चाहिए था। 'रक्त ताल' में रामशाह तोमर एवं उनके पुत्रों की छतरियों पर 10 जून 2022 को राष्ट्रीय स्वाभिमान के लिए अपना सर्वस्व बलिदान देने वाले वीरों की समाधि पर पुष्पांजलि देकर उन पुष्प और 'रक्त ताल' की पवित्र बलिदानी मिट्टी को एक ताम्र कलश में रखकर हल्दीघाटी से 1350 किलोमीटर की यात्रा कर चंबल घाटी में स्थित 'भवेश्वरी देवी' मंदिर जो तोमरों की चंबल क्षेत्र में प्राचीन राजधानी 'ऐसाह' के पास स्थित है और जहां गंगा प्रकट हुई है जिसे 'प्रकट गंगा' कहते हैं। उस पवित्र स्थान पर 18 जून बलिदान दिवस के अवसर पर कलश विसर्जन किया गया।

गोपाल सिंह राठौड़

महाराणा प्रताप से जुड़े कुछ स्थान

महाराणा उदयसिंह के पुत्र प्रताप का जन्म कुम्भलगढ़ (उदयपुर से 40 कि.मी.) में वर्ष 1540 में हुआ था। यह दुर्ग पर स्थित है (चित्र-1)। तलहटी में बड़े आकार का शिवलिंग है, कुम्भलगढ़ के निर्माता राणा कुम्भा इसकी पूजा करते थे।

प्रताप का राज्याभिषेक गोगुन्दा (उदयपुर से 20 कि.मी.) में वर्ष 1572 में हुआ था। राज्याभिषेक स्थल पर धड़ तक मूर्ति स्थापित है (चित्र-2)। इस स्थल के एक तरफ पुरानी बावड़ी और दूसरी ओर

प्राचीन शिव मंदिर है। इसी अहाते में एक हनुमान मंदिर एवं कुछ छतरियां स्थित हैं (छतरियों में कलात्मक शिवलिंग स्थापित हैं) जो राजपरिवार के सदस्यों की जान पड़ती हैं (चित्र-3)। यहाँ पर भग्नावशेष भी हैं।

इसके पास सुन्दर उद्यान बनाकर स्मारक हेतु महाराणा प्रताप और उनके निष्ठावान साथी भील राणा पूंजा की धातु मूर्तियाँ स्थापित की गई हैं।

महाराणा प्रताप ने आक्रमणकारी अकबर की विशाल सेना से 18 जून 1576 को वीरतापूर्वक हल्दीघाटी एवं खमनौर (रक्ततलाई) में युद्ध किया, मुगल सेना विजय प्राप्त न कर सकी। युद्ध में प्रताप का प्रिय अश्व बुरी तरह से घायल हो गया, फिर भी उसने अपने स्वामी को सुरक्षित स्थान पर पहुँचा कर दम तोड़ा। महाराणा को अत्यन्त दुख हुआ, उसकी स्मृति में चेतक चबूतरा हल्दीघाटी में है (चित्र-4)। समीप ही एक छोटा सा शिव मंदिर एवं संग्रहलय है, जहाँ पर्यटकों को हल्दीघाटी युद्ध की जानकारी एक मानचित्र से दी जाती है।

कुछ समय उपरान्त स्वामीभक्त मंत्री भामाशाह ने अपनी सारी सम्पत्ति महाराणा प्रताप को सेना गठित करने हेतु भेंट की। इस प्रकार उन्होंने सैनिकों एवं शस्त्रों की व्यवस्था की और फिर से आक्रमणकारियों से युद्ध कर मेवाड़ को चित्तौड़ एवं मांडल को छोड़ कर स्वाधीन किया।

उन्होंने चावण्ड में महल एवं चामुण्डा माता मंदिर का निर्माण कर वर्ष 1585 में राजधानी की स्थापना की। महल के अवशेष अभी भी देखे जा सकते हैं (चित्र-5)। मंदिर में वे पूजा-अर्चना करते थे। मंदिर के मुख्य द्वार से पहले दोनों ओर सिंह बने हैं एवं त्रिशूल भी स्थापित है। पूजा गृह बड़े आकार का है, छोटी सी मूर्ति ऊँचाई पर दीवार के समीप रखी है, नीचे एक देवी चित्र शीशे के फ्रेम में रखा गया है (चित्र-6)।

वर्ष 1597 में महाराणा प्रताप की मृत्यु हो गई, उनका अन्तिम संस्कार चावण्ड से 2 कि.मी. दूर बण्डोली गाँव में किया गया, जो कालान्तर में डूब क्षेत्र में आ गया। कुछ वर्ष पहले ही वहां पुल का निर्माण कर, उसी स्थान के ऊपर एक छतरी बनाकर सफेद संगमरमर का शिव लिंग स्थापित किया गया, पास में उद्यान भी बना है। (चित्र-7)।

चावण्ड में महाराणा प्रताप के महल के भग्नावशेष के समीप ही एक स्मारक बना है जहाँ महाराणा प्रताप की एक बड़े आकार की धातु मूर्ति ऊँचे पैडेस्टल पर बनी है, इसी पर भामाशाह, भील राणा पूंजा एवं हाकिम खान सूरी की मूर्तियां भी बनी हैं।

उदयपुर में मोतीमगरी पर महाराणा उदयसिंह के मोती महल के अवशेष हैं, इसी के समीप उद्यान बनाकर अश्व चेतक पर आसीन महाराणा प्रताप की धातु मूर्ति है (चित्र-8, 9)। इस मूर्ति के पैडेस्टल के चारों ओर महाराणा प्रताप के जीवन की मुख्य घटनायें अंकित हैं, जिनमें वह मार्मिक दृश्य भी है जिसमें चेतक की मृत्यु पर अत्यन्त दुखी महाराणा प्रताप हैं। नीचे की पहाड़ियों पर भामाशाह, भील राणा पूंजा एवं हाकिम खाँ सूरी की मुर्तियाँ भी हैं, एक छोटा संग्रहालय भी है। महाराणा प्रताप के जन्म दिन पर उपरोक्त मुर्ति के पास स्मरणांजली कार्यक्रम होता है और नगर में भव्य जुलूस निकाला जाता है।

सिटी पैलेस, उदयपुर में प्राचीन आयुधों का संग्राहलय है, जिसमें महाराणा प्रताप की तलवार, भाला एवं कवच हैं जिनका अत्यधिक भार चकित करता है। यू. आई. टी, उदयपुर के पीछे नीलकंठ महादेव मंदिर है, जहाँ महाराणा प्रताप पूजा करते थे, मंदिर के समीप ही एक प्राचीन बावड़ी है। उदयपुर में महाराणा प्रताप की बैठी मुद्रा में 22 मीटर ऊँची मूर्ति बनाई जा रही है (चित्र-10)। भारत सरकार ने उनकी स्मृति में वर्ष 2003 में एक सिक्का जारी किया था। भारत माता के इस महान सपूत को शत-शत नमन।

जितेन्द्र नाथ जौहरी
उदयपुर
मो: 8003188087

प्राचीन तमिल प्रदेश का बाह्य संपर्क

डॉ. एम. शेषन्

'सागर पार करके भी द्रव्योपार्जन करना चाहिए' (तिरै कडलोडियुम् दिरवियम् तेडु) तमिल प्रदेश की यह उक्ति काल की दृष्टि से परवर्ती होते हुए भी प्राचीन तमिलों की जीवन शैली तथा उनकी संस्कृति का एक विशेष अंग रहा है ऐसा मालूम होता है। प्राचीन तमिल लोग आलसी नहीं थे, बड़े परिश्रमी और उद्यमी लोग भी थे। उद्यम कर धनोपार्जन करते हुए जीवन का आनन्द भोगनेवाले थे। पहाड़ों, वनों, समुद्रों के साथ घुल मिलकर रहनेवाले जीवट जाति के लोग थे। पश्चिम के ग्रीस, रोम, मिस्र से लेकर पूर्व में चीन तक समुद्री वाणिज्य-व्यापार कर जीवन यापन करने की उनकी प्रवृत्ति रही। मिस्र, फारस, मेसोपोटामिया, बाबिलोनिया जैसे देशों के साथ प्राचीन तमिलों का वाणिजय सम्बन्ध और सांस्कृतिक संपर्क भी रहा। तमिलप्रदेश की इलायची, लौंग, अदरक, कालीमिर्च, काजू, चन्दन, की लकड़ियाँ, हाथी दाँत आदि वस्तुओं के प्रति पश्चिमी एशिया के देशों में प्राचीन काल से ही एक विशेष आकर्षण और ललक रही। 'पुराने टेस्टमण्ट' में इस बात का उल्लेख है कि यहूदियों के आदिगुरु मोसस अपनी पूजा में इलायची का प्रयोग किया करते थे। मंदिर का निर्माणकर पूजा का विधि विधान मोसस ने जो किया था वह ई.पू. 1420 है। दक्षिण अरब देश की रानी शीबा इस्त्रैल के राजा सालमेन से भेंट करने जब गयी थी तब उन्हें भेंट में देने के लिए जो चीज़ें साथ ले गयीं उनमें इलायची, लौंग, काजू आदि द्रव्य भी थे इस बात का उल्लेख भी 'पुराने टेस्टमण्ट' में प्राप्त होता है। सालमन का शासन काल ई.पू. 1000 माना जाता है। इनके शासनकाल में डयर देश का अधिपति हीराम् के आदेशानुसार तीन साल में एक बार कुछ नावें और पोत पूर्वी देशों की यात्रा कर सोना, चाँदी दाँत, बन्दर, मोरंपख (तमिल में तुकिल) अकिल लकड़ी, कीमती रत्न आदि वस्तुओं को लादकर ले आये। सालमन को भेंट में दी गयी इन वस्तुओं के नाम सब तमिल नामों की विकृतियों हैं विकार हैं इस में कोई सन्देह नहीं। ये सारी वस्तुयें प्राचीन तमिल प्रदेश के चेर प्रदेश के बन्दरगाहों द्वारा विदेश में निर्यात् हुई होंगी।

इस बात का प्रमाण हमें उपलब्ध होता है कि तमिल प्रदेश और बाबिलोनिया के बीच बहुत बड़ा व्यापारिक संपर्क बना रहा। वहाँ की बही खाते में इस बात का उल्लेख पाया जाता

है कि तमिल व्यापारी लोग बाबिलोनिया नगर में बसे हुए थे और वहीं से अपना व्यापार-धन्धा चलाते थे।

तमिलनाडु तथा मिस्र देश का व्यापारिक सम्बन्ध तो बहुत पुराना माना जाता है। अनेक शताब्दियों पूर्व "Periplus of the Erithrayn Sea" नामक ग्रंथ में उसने लिखा है कि असभ्यता की स्थिति से जागकर उठने के अनेक शताब्दियों पूर्व ही मिस्र तथा भारत का वाणिज्य सम्बन्ध बना रहा। पारस की खाड़ी के मुखद्वार के उत्तर में ये दोनों देश वस्तुओं की अदला-बदली (Berter System) में लगे हुए थे। प्राचीन तमिल प्रदेश से निर्यात वस्तुओं में मलमल का कपड़ा, इलायची, लौंग, काजू, काली मिर्च, हाथी दाँत, चन्दन की लकड़ियाँ आदि अनेक कीमती वस्तुयें उल्लेखनीय थीं। तमिल व्यापारी इन वस्तुओं को बड़ी बड़ी नावों और पोतों पर लादकर एड़न के पास के बन्दरगाहों में उन्हें उतार देते थे। फ़िशीशियन व्यापारी या अरब के व्यापारी उन मालों को वहाँ स्वीकार कर मिस्र देश ले जाया करते थे। मिस्र देश के इतिहास से पता चलता है कि ई.पू. 1500-1350 के काल खण्ड में इस देश में आयातित माल में दक्षिण भारत की इन वस्तुओं का उल्लेख प्राप्त होता है।

दक्षिण भारत और सुमेरिया के मध्य ई.पू. चार हज़ार वर्ष पूर्व ही वाणिज्य-व्यापार का कार्य चल रहा था। इस बात का उल्लेख 'सेस' (Sayce) ने अपने भाषण (1887) में किया है। सिन्धु घाटी सभ्यता की खोज के अनेक वर्षों पूर्व ही उन्होंने अपने इस विचार को व्यक्त किया था। अपने विचारों को उन्होंने प्रमाणों से साबित किया था। सुमेरिया की राजधानी 'ऊर' नामक स्थल पर भगवान चन्द्र के लिए निर्मित मंदिर के खण्डहर की खोज की गई। भारत के सागौन की लकड़ी के टुकड़े उन खण्डहरों में प्राप्त हुए। ई.पू. बीसवीं शताब्दी में ही 'ऊर' नामक वह शहर मिट चुका था। अतः उस सागौन की लकड़ी की आयु पाँच हज़ार से भी ज्यादा आँकी जा सकती है। ई. पूर्व तीसरी शताब्दी के पूर्व ही केरल प्रदेश से सागौन की लकड़ियाँ भारत वर्ष से उन देशों के लिए निर्यात हुई होंगी। मलमल कपड़े का वहाँ उल्लेख पाया जाता है। उन दिनों तमिलनाडु में मलमल कपड़े-महीन कपड़े-तैयार होते थे। यह कपड़ा तमिल प्रदेश से बैबिलोनिया को निर्यात हुआ होगा। 'सिन्धु' शब्द तमिल भाषा में कपड़ा के लिए प्रयुक्त प्राचीन शब्द है (कन्दर अन्तादि-21) कन्नड़ और तुलु भाषा में भी कपड़े के लिए सिन्धु शब्द का प्रयोग होता है। यह महीन कपड़ा तमिल प्रदेश से बाबिलोन के लिए समुद्री मार्ग से ही गया होगा। फ़ारसी भाषा में 'स', 'ह' हो जाता है। फारस से होकर यह कपड़ा निर्यात् हुआ होगा तो उसका नाम 'हिन्दु' हुआ होगा। लेकिन बाबिलोनिया में यह 'सिन्धु' ही कहलाया गया। इसलिए यह अनुमान किया जाता है कि केरल से यह कपड़ा समुद्री मार्ग में बेबिलोनिया गया होगा।

प्राचीन युग में दक्षिण का संपर्क मेडागास्कर के साथ भी रहा। व्यापार के निमित्त अनेक व्यापारी दक्षिण से मेडागास्कर जाकर बस गये थे। वहाँ के लोगों का कहना है कि उनके पूर्वज प्राचीन काल में दक्षिण में मंगलोर से मडागास्कर जाकर बस गये थे। उस देश का प्राचीन नाम 'मले' था। संस्कृत मिश्रित इंडोनेशिया की भाषा का प्रचलन मेडागास्कर में है। संभवतः दक्षिण भारत से मलेशिया गये व्यापारी लोग अथवा उनके वंशज मलेशिया को छोड़कर मेडागास्कर में जाकर बस गये होंगे।

प्राचीन काल से तमिल लोग पश्चिमी देशों के साथ बड़े पैमाने पर वाणिज्य व्यापार के सम्बन्ध से जुड़े हुए थे। ई.पू. सातवीं शताब्दी से लगातार विदेशी व्यापार चलता रहा। तमिल प्रदेश की वस्तुओं को अरब के लोग, फिनीशियन लोग तथा मिस्र के व्यापारी अपने अपने जहाजों पर लादकर ले गए।

ई.पू. पाँचवी शताब्दी के प्रारंभ में ही ग्रीक का वाणिज्य सम्बन्ध भारत से प्रारम्भ होता है। तमिलनाडु के साथ उनके इस वाणिज्य सम्बन्ध की

वजह से अनेक तमिल शब्द ग्रीक भाषा में प्रयुक्त होने लगे थे। सोफोक्लीश, अरिस्टोपेनिस जैसे ग्रीक भाषा के विद्वानों के ग्रंथों में अनेक तमिल शब्द प्रयुक्त हुए हैं। तमिल भाषा का शब्द 'अरिसि' (चावल) ग्रीक भाषा में पहुँचकर 'अरिसा' का विकृत रूप पा चुका था। उस भाषा में 'करुवा' (लौंग) नामक तमिल शब्द 'कार्पियन' हो गया और 'इन्जिवेर' (अदरख) 'चिन्जीपेरोस' हो गया और पिप्पली (तिप्पिलि) 'पेरप्पेरी' के नाम से रूप परिवर्तित हो गया। इन शब्दों के प्रयोगों के आधार पर उन देशों के बीच वाणिज्य सम्बन्ध रहा है इसे हम निश्चित रूप से नही कह सकेंगे। फिर भी वे देश आपस में समुद्री वाणिज्य में लगे हुए थे इस निश्चिय पर हम पहुँच सकते हैं।

तमिल प्रदेश की सुगंधित द्रव्यों की रुचि और अन्य निर्यातित वस्तुओं की महत्ता को ग्रीक लोगों के माध्यम से रोम के निवासी भी जानने पहचानने लगे। फिर भी ई. सन् प्रथम शताब्दी तक रोम के साथ तमिल प्रदेश के व्यापार का विस्तार नहीं हो पाया। इस काल से भी पूर्व के रोम के राजाओं के सिक्के अब तक तमिलनाडु में नहीं प्राप्त हुए हैं। यही इसका प्रमाण है। रोम का चक्रवर्ती अगस्टस ने ई. पूर्व 30 में मिस्र को पराजित कर उस पर शासन कायम किया था। इस विजय से उन्हें अप्रत्याशित रूप से एक लाभ हुआ। तब से उनका वाणिज्य-व्यापार सम्बन्ध सीधे तमिल प्रदेश से होने लगा। ई. सन् प्रथम शताब्दी से लेकर आगे कुछ शताब्दियों तक तमिलनाडु और रोम के बीच समुद्री व्यापार बहुत ज्यादा होने लगा था। इसके बहुत से प्रमाण हमें उपलब्ध होते हैं। रोम के चक्रवर्ती अगस्टस के समकालीन 'स्ट्राबो' (Strabo) नामक लेखक ने एक भूगोल ग्रंथ लिखा है। एरित्रिय समुद्र का 'पेरिप्लूस' (Periplus of the Erithracan Sea) नामक एक अन्य इतिहास ग्रंथ (ई. सन् 60) भी उपलब्ध हुआ। इसके लेखक के नाम का पता नहीं चलता। प्लिनी (Pilny) नामक एक अन्य लेखक ने एक जैविक शास्त्र ग्रंथ (ई. 70) तथा तालिमी (Tolemy) नामक लेखक ने भूगोल ग्रंथ लिखा है। इन ग्रंथों में पुराकालीन तमिल प्रदेश के वाणिज्य व्यापार के बारे में प्रभूत मात्रा में प्रमाण उपलब्ध होते हैं। तमिल के पुराकालीन (ई. पू. 500 से लेकर ई. सन् 300 तक) संगम साहित्य में भी प्राचीन तमिलों की जीवन शैली को स्पष्ट करनेवाली अनेक सूचनायें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती हैं। इन सब प्रमाणों और अन्तः साक्ष्यों से यह बात प्रतिपादित होती है। पुदुचेरी के निकटवर्ती 'अरिक्कामेडु' नामक स्थल पर हुए उत्खनन से अनेक प्रकार की ऐतिहासिक महत्त्व की वस्तुयें प्राप्त हुई हैं। उनमें उल्लेखनीय हैं रोम साम्राज्य के पुराकालीन सिक्के। ये सिक्के इस बात के प्रमाण हैं कि प्राचीन तमिल प्रदेश का रोम से समुद्री वाणिज्य का सम्बन्ध और संपर्क रहा है। रोम के लेखकों की रचनाओं के माध्यम से भी हम पुराकालीन तमिल प्रदेश के बन्दरगाहों के बारे में जान लते हैं। उनमें अनेक बन्दरगाहों के नाम विकृत रूप में प्राप्त हैं। चेर प्रदेश (केरल) के बन्दरगाह 'तोण्डि' को 'तिण्डिस' तथा 'मुसिरी' को 'मुसिरिस' तथा 'पोरकाट्' को 'पकरि' और 'कुमरि' को 'कोमारी' के नाम से रोम लोग पुकारते थे। इसी प्रकार तमिलनाडु के पूर्ववर्ती समुद्र के बन्दरगाहों जैसे 'कोरक्कै' को 'कोलसाय' तथा 'नागपट्टिणम्' को 'निकामा', 'कावेरीपूम्' - पट्टिणम्' को 'मसोलिया' के नाम से उनके ग्रंथों में उल्लेख मिलता है। चेरप्रदेश के सभी बन्दरगाह कण्णूर और कोच्चि के बीच बसे हुए थे। अब तथा ग्रीस से व्यापार के मालों को लादकर असंख्य जहाज और पोत 'मुसिरि' बन्दरगाह पर आकर ठहरे थे। इन सबका उल्लेख 'पेरिप्लूस' ग्रंथ में प्राप्त है। चेर प्रदेश के समुद्र तटपर चलनेवाली दक्षिण-पश्चिम पवन के मौसम (South–west Monsoon) के बारे में पहल पहल जाननेवाले 'हिप्पालस' नामक ग्रीक (ई. सन् 45) यूरोप के जहाजी यात्री लोग इस तथ्य को

जानने लगे कि इस मौसमी हवा के साथ पोतों को बड़ी तेज़ी से चलाते हुए चेर प्रदेश के बन्दरगाहों में सुरक्षित पहुँच सकते हैं। इस मौसमी पवन के सहारे माल से लदे बड़े-बड़े पोतों और जहाज़ों को चलाते हुए तमिल प्रदेश के पश्चिमी बन्दरगाहों में पहुँचकर वहाँ लंगर डालने लगे। दक्षिणी पश्चिमी मौसमी पवन की जानकारी हासिल करने के पूर्व वणिक लोग छोटी छोटी नावों में माल लादकर तटवर्ती प्रदेशों से होकर यात्रा करते हुए लंबी यात्रा के पश्चात् चेर प्रदेश के बन्दरगाहों तक पहुँच पाते थे। वह कठिनाई अब दूर हो गयी। लंबी यात्रा के कारण वस्तुयें भी खराब हो जायेंगी इस चिन्ता से भी वे मुक्त हुए।

तमिल प्रदेश के साथ हुए रोम का व्यापारिक सम्बन्ध वहाँ के राजाओं के प्रोत्साहन तथा प्रेरणा की वजह से खूब विकसित होने लगा था। वाणिज्य के इस विस्तार में रोम चक्रवर्ती अगस्टस ने भी विशेष प्रोत्साहन देकर उसे बढ़ावा दिया। 'स्ट्रेबो' (Strabo) कहते हैं कि 'हारमज़' (Hormuz) नामक बन्दरगाह से लगभग 120 पोतें चलने लगीं जिन्हें उन्होंने स्वयं अपनी आँखों से देखा था। एक पाण्ड्य राज ने अपने दो राजदूतों को उनकी राजसभा में भेजा था जिसका उल्लेख अगस्टस खुद ही करते हैं। रोम से हुए इस व्यापार की स्थिति में कालान्तर में अनेक परिवर्तन भी आये। रोम साम्राज्य के पतन के उपरान्त रोम का वाणिज्य सम्बन्ध न केवल तमिल प्रदेश के साथ, बल्कि मछलीपट्टणम् तथा उड़ीसा के समुद्र तटवर्ती प्रदेशों में भी विस्तार पा चुका था। रोम के अनेक जहाज व पोतें वहाँ के बन्दरगाहों में लंगर डालकर खड़ी थी।

रोम के अतिरिक्त ग्रीक, सिरियन, यहूदियों ने भी तमिल प्रदेश के साथ वाणिज्य सम्बन्ध को बढ़ाने में तत्परता दिखाई। उन दिनों तमिल प्रदेश में रोम लोगों की बस्तियाँ निर्मित थीं इनका उल्लेख पुराकालीन तमिल संगम साहित्य में प्राप्त होता है। उनमें से अनेक तमिल प्रदेश में लंबे काल तक ठहर चुके थे। प्लिनी का कहना है कि उन लोगों के माध्यम से वे तमिल प्रदेश के सम्बन्ध में अधिक जानकारी पाने लगे थे। जैसे उनका व्यापार तमिल प्रदेश के साथ विस्तार पाने लगा वैसे तमिलनाडु में बसे रोमन् लोगों की संख्या भी बढ़ती गयी। उनकी एक बस्ती (तमिल में 'चोरी') भी मदुरै नगरी के निकट थी जिसका उल्लेख संगम काव्य में प्राप्त होता है। उनके सिक्के, सोना-चाँदी और तांबे के सिक्के भी अब उत्खनन में ढूँढ निकाले गये। ऐसा अनुमान है कि मदुरै में रोमन् सिक्कों का एक कारखाना भी रहा होगा। ब्यूट्टिंगर के एतिहासिक विवरणों से हमें पता चलता है कि दो हजार वर्ष पूर्व अगस्टस का एक मंदिर भी रहा है।

रोम के साथ जब तमिल प्रदेश का व्यापार उन्नत दशा में था तब अरिक्कमेडु नामक स्थान पर (पुदुचेरी में) एक भण्डार गृह तथा बिक्री केन्द्र भी चलता था। मेडिटरेनियन (भूमध्य सागर) देशों में प्रचलित मिट्टी के बरतन भांडों की तरह के बरतन भाण्डे भी अरिक्कमेडु की खुदवाई में प्राप्त हुए हैं।

रोम के लिए निर्यात भारतीय माल की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती गयी। इस कारण प्रति वर्ष 6 लाख पौण्ड के मूल्य का रोमन सोना तमिलों के हाथों में पहुँच गया था। इतनी बड़ी संख्या में अपने देश की संपत्ति को विदेश जाते देख चिंतित कुछ रोम के अधिकारियों ने तमिल प्रदेश के साथ हो रहे इस व्यापार एवं तमिल प्रदेश की वस्तुओं के प्रति रोमन लोगों की ललक और पिपासा का खण्डन भी किया।

चक्रवर्ती नीरो की मृत्यु ई. सन् 68 में हुई। उसके बाद हुई राज्याधिकार की प्रतिस्पर्धा के कारण जो राजनीतिक गड़बड़ियाँ वहाँ हुई उसके फलस्वरूप रोमन लोग नवमणियों, विभिन्न रत्नों तथा महीन मलमल कपड़ों को तमिल प्रदेश से निर्यात करने के काम को बन्द करने लगे। इस वजह से उनका व्यापार धीरे धीरे कम होने लगा। नीरो के बाद वेसबेसियन नामक राजा सत्ता पर बैठा। अपने

आसपास रहनेवाले सामंतों, रईसों और दरबारियों की अपार संपत्ति, उनके आडंबरमय जीवन के प्रति यह घृणा प्रकट करने लगा। उनकी अतीव विलासिता एवं भोगवादी प्रवृत्ति को रोकने के उद्देश्य से अनेक कानून बनाता गया। वह अपने इस प्रयत्न में सफल भी रहा। रोम के निवासी और नागरिक फिर से सादा, सरल जीवन की ओर प्रवृत्त होने लगे। वेसबेसियन के इन प्रयत्नों के फलस्वरूप रोम का तमिलनाडु से हुए व्यापारिक संपर्क भी धीरे-धीरे कम होता चला। ई. सन् तीसरी शताब्दी के बाद प्रचलित रोम के सिक्के तमिल प्रदेश में उपलब्ध नहीं होते हैं। लेकिन इसी एक कारण मात्र से रोम का वाणिज्य हमारे साथ बिलकुल खत्म हो गया ऐसा मानना भी सही नहीं। क्योंकि आगे भी लगातार तमिल प्रदेश से कालीमिर्च, इलायची, महीन मलमल कपड़े, हाथी दाँत, चन्दन आदि का निर्यात होता रहा। इतिहास से यह विवरण पुष्ट होता है। चक्रवर्ती कान्स्टनटैन के समय से (ई. सन् 324-337) दक्षिण भारत तथा उत्तर भारत दोनों प्रदेशों में रोमन् सिक्के बहुतायत से प्राप्त होते हैं। संभवतः चौथी, पाँचवी शताब्दियों में वे भारत के अन्दर प्रवेश कर गये होंगे। रोम के इतिहास में ज्ञात होता है कि चक्रवर्ती कान्स्टनटैन ने अपने जीवन के अंतिम समय में भारतीय राजदूत को अपनी राजसभा में स्वागत किया था। चक्रवर्ती जूलियन (ई. सन् 364-368) ने भी भारत से अनेक राजदूतों को अपनी राजसभा में स्वागत किया था।

कोंकण के समुद्रतटवर्ती प्रदेशों तथा उत्तर मालाबार के समुद्र तटवर्ती प्रदेशों में समुद्री डाकुओं का आवागमन बहुत होता था। इस कारण संभवतः रोमन् लोग वहाँ तक पहुँच नहीं पाये। पेरिप्लूस के लेखक ने कण्णूर तथा तोण्डि के बारे में अपने ग्रंथ में उल्लेख नहीं किया, इसका कारण यही रहा होगा। चक्रवर्ती नीरो के बाद कुछ समय तक रोमन व्यापारी भारत की वस्तुओं की अदला-बदली (Barter System) में लगे हुए थे ऐसा मालूम होता है।

प्राचीन तमिल लोग मेडिटरेनियन (भूमध्यसागर) देशों के लिए अपना माल खुद सीधे लादकर नहीं ले आते थे। चक्रवर्ती अलक्ज़ेन्डर (ई. पू. 356-323) के समय के पूर्व तमिल व्यापारी बैबिलोनिया को पार कर उस पार गये हों इसका विवरण हमें उपलब्ध नहीं होता। लालसागर (Red Sea) के अन्दर भी उनका प्रवेश नहीं हुआ था। लाल सागर तक लदे उनके माल को फ़िनीशियन तथा अन्य देशवासी स्वीकार कर मेडिटरेनियन देशों में ले जाकर बिक्री करते थे। बाद में ग्रीस तथा मिस्त्र के व्यापारियों ने इसे अपने हाथ में ले लिया था। उसके बाद ई. सन् प्रथम और द्वितीय शताब्दियों में अरब तथा रोम के व्यापारी तमिल प्रदेश के माल को पश्चिमी देशों तक जहाज द्वारा ले जाने के कार्य में लगे थे। लाल सागर पार कर भारत के व्यापारी आगे बढ़ नहीं पाये, इस एक कारण से उनके समुद्री व्यापार की क्षमता कम रही, ऐसा नहीं माना जा सकता है। क्योंकि नील नदी के बंदरगाह अलेक्ज़ेंन्ड्रिया में सैकड़ों की संख्या में भारतीय व्यापारी बसे हुए थे। वे उस महानगरी में भीड़ के भीड़ में रहकर अपना माल बेचने में तत्पर रहे।

बीच समुद्र में जहाज न चलाने पर भी किनारे ही पोतों को चलाते हुए तमिल लोग वाणिज्य में लगे हुए थे। ये सारे पोत लकड़ी के बनाये होते थे। लेकिन ई.पू. पाँचवी शताब्दी से ही बड़े बड़े जहाज़ों को निर्मित करने की क्षमता और बुद्धि कौशल को तमिल लोगों ने प्राप्त किया है। इस प्रकार प्राचीन तमिल लोग जहाज़ी यात्रा में माहिर थे, Seafarers थे। हर एक जहाज लगभग 35 टन वजन के माल को ढ़ोकर चलने की क्षमता से युक्त थे। परवर्ती युगों में चोल राजाओं के काल में (ई. सन् दसवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक) इनसे भी बड़े बड़े जहाज बनाये जाने लगे। चोलमण्डल के समुद्र तटवर्ती प्रदेशों में पुदुचेरी, मरक्काणम् आदि बन्दरगाहों में बहुत बड़े आकार के जहाज और बड़े कटमरान भी आकर

ठहरते थे। यहाँ से जहाज़ किनारे किनारे होते हुए चेर प्रदेश के बन्दरगाहों तक पहुँच ज़ाते थे। परवर्ती पल्लव शासक (सातवीं -- नौवीं शताब्दियों में) पोतों द्वारा वाणिज्य व्यापार को प्रोत्साहन देते थे।

चेर प्रदेश के बन्दरगाहों में ग्रीस देश के बड़े बड़े जहाज आकर ठहरते थे। मौसम की सही जानकारी प्राप्त करने के उपरान्त रोम साम्राज्य का व्यापार पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। संपन्न धनी रोम सामंतों ने धन लगाकर बड़े-बड़े जहाज बनाते थे। व्यापार के वृद्धि और उसके विकास के साथ-साथ उन जहाजों की संख्या में भी वृद्धि होने लगी थी। मिस्र देश के निवासी भी जहाज बनाने में दूसरों से पीछे नहीं थे। हिन्द महासागर को पार कर जाने के लिए बडे बड़े जहाज़ों का उपयोग करते थे। अतः वे आकार में बड़े होते थे।

तमिलनाडु से यूरोप के अनेक देशों के लिए विविध प्रकार की वस्तुओं का निर्यात होता था। बाघ, चीता, शेर, हाथी, बन्दर, मोर, तोता, शिकारी जंगली कुत्ते आदि जानवरों का वे निर्यात करते थे। तमिल प्रदेश के शिकारी कुत्तों की बड़ी माँग विदेशों में होती थी। संभवतः बाघ, शेर आदि जानवर उत्तर भारत से निर्यात हुए होंगे। लेकिन तमिलनाडु से बड़ी संख्या में हाथी यूरोप के देशों के लिए निर्यात होते थे। विदेशी लोग यहाँ विविध प्रकार के साँपों को खरीदकर ले जाते थे (India is a land of Serpents and Snake charmers) स्ट्राबो (Strabo) लिखते हैं कि उसने भारत से आयातित मालो में नौ फुट लंबे राजनाग को मिस्र में देखा था। चेर प्रदेश के जंगलों में विविध प्रकार के सर्प बड़ी संख्या में प्राप्त होते थे। अतः अनुमान है कि चेर प्रदेश के बन्दरगाहों द्वारा साँप विदेश जाया करते थे। पश्चिमी देशों के साथ हुए व्यापार में कीमती वस्तुयें, हाथी दाँत और मोती अधिक मात्रा में निर्यात होते थे।

तमिल प्रदेश से विदेशों के लिए निर्यात प्रमुख वस्तुओं में उल्लेखनीय हैं इलायची, लौंग, कालीमिर्च, अदरक, काजू, चावल, सागौन की लकड़ियाँ, चन्दन की लकड़ियाँ तथा मकान बनाने योग्य सामान्य लकड़ियाँ इत्यादि। कालीमिर्च और अदरक दवा बनाने के काम में खास उपयोग में आते थे। हिप्पग्रेटस नामक प्रसिद्ध ग्रीक वैद्य ई.पू. पाँचवी शताब्दी में जीवित थे। वे भारतीय चिकित्सा पद्धति - आयुर्वेद पद्धति एवं उनकी दवाओं से परिचित थे और उनका प्रयोग करते थे। वे काली मिर्च को 'भारतीय दवा' ही कहा करते थे। उस युग में ग्रीक लोक तिल के तेल के उपयोग से खूब परिचित थे। तिल का तेल तमिल लोगों के भोजन की खास वस्तुओं में माना जाता था। पता नहीं रोम लोग भी तिल के तेल का आयात करते थे या नहीं। तमिल प्रदेश की लकड़ियों की बिक्री रोम में बहुत होती थी। फारस की खाड़ी के बन्दरगाहों में तमिल प्रदेश की सागौन की लकड़ी की सहायाता से जहाज बनाते थे। चेर प्रदेश के वनों में तथा कर्णाटक के जंगलों में से यह लकड़ियाँ निर्यात होती थीं, इसमें कोई शक नहीं।

पश्चिमी देशों से तमिल प्रदेश के व्यापारिक संबन्धों के बारे में तमिल साहित्य के पुराकालीन (लगभग 2500 वर्ष पूर्व) संगम कविताओं से प्रभूत मात्रा में अन्तः साक्ष्य मिलते हैं। तमिल लोग उन देशों से चाय की पत्तियाँ और सोने का आयात करते थे। अनेक यवन युवक तमिल राजाओं के राजमहलों में हस्तकौशल के कारीगर के रूप में तथा राजमहल के पहरेदारों के रूप में काम करते थे। संगम कालीन कविता संकलन "पुरनानूनरु" में (पद्य 56) उल्लेख मिलता है कि यवन नारियाँ सुन्दर मधुकलशों में सुगंधित ठंडे मधु को, फूलों की कारीगरी से युक्त सुवर्ण कटोरियों में उँडेलकर राजओं को पिलाती थीं इसी प्रकार "अहनानूरु" कविता संकलन की एक कविता में (149) उल्लेख मिलता है कि "खूब प्रवाहित होनेवाली बड़ी-बड़ी नदियों में सफ़ेद हाथी की भांति तैरते हुए आनेवाले, मजबूत लकड़ियों से बने पोत और जहाज सोने के सिक्कों को किनारे में

डालकर, बदले में काली मिर्च के बोरों को लादकर ले चलनेवाला, हलचलों और शोरगुल से भरा मुसिरिपट्टणम् बन्दरगाह।" यह उल्लेखनीय बात है कि पश्चिमी देशों के अलावा, चीन, मलेशिया, जावा (शावकम्) उत्तर बोर्नियो आदि पूर्वी देशों के अलावा, चीन, मलेशिया, जावा (शावकम्) उत्तर बोर्नियो आदि पूर्वी देशों के साथ भी तमिल प्रदेश का अच्छा खासा समुद्री व्यापार चलता था। खासकर चीन के साथ तमिल प्रदेश का वाणिज्य सम्बन्ध अति प्राचीन है। ऐसा लगता है कि यह वाणिज्य सम्बन्ध लगभग ई. पूर्व एक हज़ार से ही शुरू हो चुका था। चीन का इतिहास हमें बताता है कि ई. पूर्व एक हज़ार से ही शुरू हो चुका था। चीन का इतिहास हमें बताता है कि ई.पू. सातवीं शताब्दी से ही तमिलनाडु से वहाँ माल निर्यात होने लगा था। चीनत्तुप्पट्टु (चीन का रेशम), शर्करा आदि वस्तुओं को वहाँ से हम निर्यात करते थे। अतः आज तक रेशमी कपड़े के लिए तमिल में चीनम् (चीनांशु) और शर्करा के लिए चीनी शब्द प्रचलित है। चीन के काँच (शीशा), चीन का कपूर, चीनीमिट्टी, चीन का कौआ, तोता चीन की छतरी, चीन के बरतन, चीन के मौती, चीन का तंबाखू आदि अनेक शब्द आज तक तमिल भाषा में प्रचलित शब्द बन चुके हैं। चीन के साथ प्रयुक्त और भी अनेक शब्द तमिल में आज भी प्रचलित हैं।

फिलिप्पैन द्वीपों में हाल में हुए उत्खनन में लौह युग की अनेक वस्तुओं का आविष्कार हुआ है। उन में चाकू, कुल्हाड़ी, बरछियाँ जैसे अनेक वस्तुयें ई.पू. प्रथम हज़ार वर्ष में तमिल लोगों द्वारा काम में लायी गयी वस्तुओं से मिलती जुलती हैं। ये प्रमाण इस बात के साक्षी हैं कि चीन, जावा जैसे पूर्वी देशों के साथ तमिल प्रदेश का व्यापारिक संबन्ध रहा है।

पूर्वी एशिया तथा रोम के बीच हुए व्यापार में तमिलों का बड़ा योगदान रहा है। तमिल प्रदेश चीन, मलेशिया, शावकम् (जावा) आदि देशों से माल खरीदकर उन्हें पश्चिमी देशों के लिए निर्यात करता था। पश्चिमी देशों के साथ तमिल प्रदेश का वाणिज्य कम हो जाने के पश्चात, उसका वाणिज्य संपर्क पूर्वी देशों से अधिक होने लगा था। तमिल प्रदेश से कई लोग इन देशों में जाकर अपना उपनिवेश बना चुके थे। इन देशों के साथ हमारा राजनैतिक सम्बन्ध भी बन चुका था। वहाँ हमारी सभ्यता और संस्कृति को वे लोग फैलाने लगे थे।

जिस देश के लोग सागर पारकर दूसरे देशों में जाकर व्यापार करने लगे हों उस देश का आन्तरिक व्यापार भी खूब अच्छी तरह चलता ही होगा। तमिल प्रदेश का आन्तरिक व्यापार भी खूब विकसित था। तमिल व्यापारी झुंड के झुंड में चलते हुए बैलगाड़ियों और साँडों के ऊपर अपना माल लादकर गाँव-गाँव में जाकर उनका व्यापार करते थे। वणिक लोग उस युग में समृद्ध थे और समाज में उनकी साख भी थी। तमिल के पुराकालीन संगम साहित्य में उनके बारे में प्रभूत प्रमाण उपलब्ध होते हैं (पेरुम्पाण् आटुप्पडै -- पंक्तियाँ 65-68)

दक्षिण भारत और उत्तर भारत के बीच ई.पूर्व. तीसरी शताब्दी में ही बड़े पैमाने पर वाणिज्य-व्यापार चलता था। तमिल प्रदेश के कुछ गाँव और शहर अपनी कुछ खास वस्तुओं की उत्पत्ति के लिए मशहूर थे। पाण्ड्य प्रदेश के मुक्ताओं की प्रशंसा मेगस्तनीस नामक विदेशी यात्री करते हैं। ताम्रवर्णीद्व कपाटपुरम् आदि स्थानों में प्राप्त मोती, मदुरै में बने सूती कपड़े आदि का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में स्थान प्राप्त कर चुका है। कपड़ों की बुनाई में उरैयूर बहुत मशहूर बन चुका था। बुनकरों का पेशा तमिलनाडु का पुराना पेशा रहा है और कृषि के साथ उसका भी महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। तमिल प्रदेश का माल बंगाल के सागर के द्वारा ही उत्तर भारत पहुँचा था। सड़क मार्ग से व्यापार बहुत सीमित ही रहा।

विदेशों के साथ तमिलनाडु का व्यापारिक संपर्क और सम्बन्ध, तमिलों की सभ्यता, संस्कृति, कला

आदि के विकास में बड़ा योगदान देता था। खासकर उत्तर भारत के साथ हुए हमारे व्यापारिक संपर्क से तमिल प्रदेश को अनेक लाभ अवश्य हुए और साथ ही कुछ अहित भी हुए। उत्तर भारत से वणिक लोग अपने माल सहित छोटे छोटे झुंड में तमिल प्रदेश में प्रवेश करने लगे। सभ्यता की दृष्टि से आर्यों और द्रविड़ों में काफ़ी अन्तर पाये जाते हैं। इसी प्रकार उनकी भाषा और द्रविड़ भाषा--तमिल में पर्याप्त अन्तर और भेद पाये जाते हैं। आर्यों के देवता तमिल देवताओं से भिन्न थे। आर्यों की जीवन शैली तथा तमिलों की जीवन शैली में भी अन्तर पाया गया। तमिल प्रदेश में प्रवेश करने वाले आर्यों लोगों में अनेक लोग तो यहीं बस गये और यहाँ की जनता के साथ घुलमिल कर तथा तमिल भाषा सीखकर तथा तमिलों के रीतिरिवाज़ और आदतों से परिचित होकर उन्हें अपने जीवन में उतारते हुए तमिल प्रजा के रूप में रहने लगे। अपने को स्थानीय लोगों के अनुकूल बनाने की (adaptability) उनकी मानसिकता देखी गयी। लेकिन, फिर भी, उनके मन की गहराई में हम उत्तर भारतीय हैं, तथा हमारी सभ्यता, रीतिरिवाज तथा परम्परायें तमिलों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं यह भावना घर कर गई। अतः तमिल लोगों को वे अपने से कुछ कम ही हैं यह भावना उनके अन्तर:स्वर के रूप में गूँजती रही कालान्तर में तमिल प्रदेश राजाओं का सद्भाव और सहायता को इन लोगों ने प्राप्त कर लिया था। आर्य भाषा की ध्वनियों और शब्दों को तमिल भाषा के साथ मिलाने लगे। तमिल भाषा के लिए वे ध्वनियाँ और शब्द नये लगे। साथ ही अपनी आदतों, रीति-रिवाजों, परंपराओं, धार्मिक विचारों, उपासना पद्धतियों को तमिल प्रदेश में धीरे-धीरे प्रचलित करने लगे। इस प्रकार शनैः शनैः दो भिन्न जातियों (race) का अद्भूत सम्मिश्रण होने लगा। यह सम्मिश्रण अचानक एक दो दिन में नहीं हुए होंगे, कालान्तर में यह धीरे-धीरे हुआ होगा। "तमिल प्रदेश आर्यमय हो गया है" -- यह विचार कुछ तमिल लोगों के मन में इस समय प्रचलित हो गया है। लेकिन उनके विचारों के लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। अतः उस विचार को सच मानने का कोई तुक नहीं है। लेकिन यह सच है कि अनेक युगों में विकसित एक जातीय सभ्यता और संस्कृति पर बीच में आये एक भिन्न सभ्यतावाले लोगों के प्रयास से प्रभाव पड़ने से तमिल सभ्यता और संस्कृति का क्षरण होने लगा। 'तमिलनाडु आर्यनाडु बन गया है'-- ऐसे विचार इतिहास विरुद्ध बातें हैं, विचार हैं। हाँ, इस बात से हम इन्कार नहीं कर सकते कि आर्य भाषा, तमिलनाडु में प्रवेश कर प्रचलित होने लगी। आर्य भाषा की ध्वनियाँ, अक्षर, शब्द आदि तमिल भाषा में मिलने लगे। फिर भी तमिल लोग उस परिवर्तनों के लिए अपनी भाषा में एक विशिष्ट स्थान देकर उन ध्वनियों, अक्षरों और शब्दों का प्रयोग करते थे। लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्व रचित लक्षण ग्रंथ 'तोलकाप्पियम्' कार ने तमिल भाषा में उनके विशिष्ट प्रयोग के निमित्त व्याकरणिक विधि-विधान और नियम बनाया था। (तोलकाप्पियम्-शब्द प्रकरणः) ध्वनि प्रकरणः आर्य भाषा का संयुक्ताक्षर, उसके अक्षर, ध्वनियाँ, शब्दों के व्याकरणिक रूढ़ियाँ तमिल भाषा में स्थान नहीं पा सकीं। उन नयी ध्वनियों और शब्दों के उच्चारण आदि के निमित्त परवर्ती युग में 'ग्रंथम् लिपि' का आविष्कार हुआ। यह सब उच्च वर्ग के बुद्धिजीवियों तक ही सीमित रहा। जन सामान्य इन प्रभावों से अछूते और अलग रहा। आर्यों के देवता तमिल प्रदेश में छोटे-छोटे देवता के रूप में माने जाते थे। सिन्धु घाटी सभ्यता के लोग पशुपति का, तथा पुराकालीन तमिल लोगों 'मायोन्' तथा 'चेयोन्' की उपासना पद्धति आगे प्रचलित रही। लेकिन आर्यों के तमिल प्रदेश में प्रवेश कर पाने के उपरान्त उनके दैवी सिद्धान्त और धार्मिक विश्वास आदि का पालन तमिल लोग करने लगे थे। इस प्रकार उन दोनों जातियों (race) के बीच अद्भुत सम्मिश्रण और

सामंजस्य होने लगा। यह इस बात को संकेतित करता है कि दोनों जातियों में अनुकूलता की भावना-adaptability विद्यमान रही।

उत्तर भारत के वाणिज्य-व्यापार के संपर्क के कारण तमिल प्रदेश को अन्य प्रकार से भी अहित हुआ। प्राचीन तमिल प्रदेश में जाति के आधार पर समाज बँटा हुआ नहीं था। अर्थात् जाति प्रथा उन दिनों यहाँ बिलकुल नहीं था। प्राचीन तमिल निवासी 'तिणै' विभाज्य (भूखंड) के आधार पर कुनबों में बँटकर रहे। 'मुल्ले' भूभाग का अहीर तथा 'कुरिंजि' भूभाग का 'कुरवन्' दोनों ही 'मरुतम्' भूभाग की वेलाल (कृषक) लड़की से शादी ब्याह का संम्बन्ध नहीं बना सकता। इसी प्रकार 'मरुतम्' भूभाग का कृषक युवा 'नेयदल' भूभाग के भरतवर (मछुआरे) लड़की से विवाह नहीं कर सकता। उसे निन्दनीय माना गया। कृषक लोग समाज में (वेलालर) उस समय के समाज में उच्च स्तर के माने जाते थे। राजा भी उन से वैवाहिक सम्बन्ध बनाता था। तमिल कवि तिरुवललुवर को इस कारण उचित सामाजिक जीवन के अनुकूल सामाजिक विधि विधान और आचार संहिता बनाने की ज़रूरत पड़ी। वास्तव में "तमिलवेद" के नाम से प्रख्यात तिरुक्कुरल आचार संहिता का शास्त्र ग्रंथ है, वह जीवन-दर्शन का काव्य ग्रंथ भी है। काल की दृष्टि से तिरुवल्लुवर के परवर्ती कालीन कवि तिरुमूलर ने भी यह घोषित किया कि "एक ही कुल (अर्थात् मानवकुल) और एक ही देवता" (ओन्ट्रे कुलम्, ओरुवने देवन्)। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए 'तिरुमंतिरम्' (कविता 2104) में वे अपने समय समाज के लोगों को सुधारने का प्रयास किया। अतः चातुरवर्ण का सामाजिक विभाजन आर्यों द्वारा यहाँ लायी गयी नयी समाज व्यवस्था थी। धीरे-धीरे तमिल समाज अनेक जातियाँ में बँट गया। जाति-प्रथा वहाँ ज़ोर पकड़ने लगी। यह चातुरवर्ण्य विभाजन तमिल समाज के लिए बिलकुल नया था। कालान्तर में तमिल समाज जातियों में बँटकर बिखर गया। जन्म से ही ऊँच नीच की भावना जन मानस में घर करने लगी। इस कारण हमारे तमिल संतों को जातिभेद का विरोध करने की आवश्यकता पड़ी। शैवसंत माणिक्कवाचकर ने भी जाति पांति की भेदवृत्ति की निन्दा की। (तिरुवाचकम् 31 : 5) गत शताब्दी के अन्त में जीवित रहे संत रामलिंग स्वामी वल्ललार ने भी तमिल समाज को जातियों में बाँटकर देखने की कुदृष्टि की बडी निन्दा की (तिरु अरुट्पा 295-296)

तमिलों की परंपरा के साथ घुल मिलकर रहे आर्यों के विचार, संस्कृति, सभ्यता, परंपरायें आदि के प्रभाव के फलस्वरूप तमिल समाज ने करवट ली। इसी भांति तमिलों के प्राचीन विचारों, परंपराओं और संस्कृति को आर्यों ने स्वीकार किया। तमिल जनता द्वारा उपास्य देवता, धार्मिक परंपराओं, पौराणिक कथाओं को आर्यों ने स्वीकारा। एक सामाजिक सांस्कृतिक सम्मिश्रण और समन्वय की ओर तमिल समाज आगे बढ़ने लगा।

यहाँ एक प्रश्न हमारे मन में उठता है। अपनी आजीविका की खोज में तमिल प्रदेश या दक्षिण की ओर आये आर्य यहाँ रहकर अपनी सभ्यता और संस्कृति का विस्तार करने में लगे थे। एक बात का ध्यान रखना होगा कि तमिलों के साथ वे कभी भी संघर्ष या युद्ध की स्थिति में नहीं रहे। ऐसा कहीं भी इतिहास में उल्लेख भी प्राप्त नहीं होता। अतः युद्ध कर देश को हथियाने का कोई अवसर भी उनके सामने नहीं आया। आर्यों का तमिल प्रदेश में प्रवेश एक लम्बे काल तक होता रहा। पहले ही कहा जा चुका है कि वे तमिलों के बीच घुलमिल कर रहते हुए जीवन शैली और परंपराओं में अनेक परिवर्तनों से होकर गुजर चुके।

'आर्यों और तमिलों के बीच अनेक संघर्ष हुए और उसके अंत में आर्य ही विजयी हुए और तमिलों की हार हुई। रामायण महाकाव्य उनके इस संघर्ष का ही चित्रण करता है।' इस भ्रमपूर्ण विचार का प्रचार

करनेवाला समाज का एक वर्ग अब तमिल प्रदेश में है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पौराणिक कथायें कपोल कल्पित दंत कथायें ही होती है, उनका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। अतः उसके आधार पर एक बहुत बड़ी ऐतिहासिक घटना के रूप में उसका उल्लेख करना न केवल अनैतिहासिक है, बल्कि अनुचित भी है। इस प्रकार समाज को भ्रमित करना सही नहीं है। इस कारण उनके विचार हमारे लिए स्वीकार करने योग्य भी नहीं है। रामायण की भांति तमिल पुराण ग्रंथों की घटनाओं को (कन्द पुराणम्-तमिल) का आधार लेकर आर्य-द्रविड़ (तमिल) संघर्ष का परिणाम है कहना भी स्वीकार करने योग्य बात नहीं है। कन्दपुराण का पात्र अगस्त्य ऋग्वेद एवं अन्य अनेक कथाओं में तथा तमिल साहित्य में भी दिखाई देता है। तमिल में रचित परवर्ती सिद्धों के साहित्य के वे ही रचयिता माने जाते हैं। अतः अगस्त्य को आर्य कहना, आर्य भाषा तथा तमिल के बीच सम्बन्ध जोड़नेवाला और विन्ध्यांचल से होकर तमिल प्रदेश में आर्यभाषा को परिचित करने वाला या तमिल प्रदेश में तमिल सिखाने आये महर्षि के रूप में मानने की जितनी बातें हैं, वे केवल कपोल कल्पनायें मात्र हैं, उनके लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होने के कारण वे घटनायें अनैतिहासिक हैं। फिर भी अगस्त्य, अगस्त्य की परंपरा के बारे में शोध चलता रहता है। अगस्त्य मुनि कैलाश पर्वत या दक्षिण के पोदिय पर्वत पर ठहरनेवाले संत के रूप में तमिल कन्दपुराण बताता है। भगवत पुराण तथा मत्स्यपुराण भी अगस्त्य को मलय पर्वत निवासी के रूप में उल्लेख करते हैं। शिवपुराणों में वे शिकारी के रूप में दर्शन देते हैं। वायु पुराण कहता है कि अगस्त्य लोग राक्षस के वंशज हैं तथा पुलस्त्य के पूत्र अगस्त्य रावण के पूर्वज रहे हैं।

यहाँ ध्यान देने की बात तो यह है कि अगस्त्य सारे, किसी न किसी पर्वत से सम्बन्ध रहे हैं। ऐसा मालूम होता है कि अगस्त्यों तथा तमिलों के बीच गहरा सम्बन्ध रहा है। अतः अगस्त्य मूल रूप में तमिल रहे हैं और पौराणिक दन्त कथाओं के माध्यम से वे आर्य बने हैं ऐसा अनुमान करने के लिए गुंजाइश है।

'तोलकाप्पियम्' की रचना के पूर्व 'अगत्तियम्' नामक एक व्याकरण ग्रंथ तमिलनाडु में प्रचलित था ऐसी एक परंपरा यहाँ रही है। एल.टी. बारनेट (Barnet) नामक लेखक ने इसके बारे में अपने विचार व्यक्त किये हैं जो निम्न प्रकार हैः "आर्यों के तमिल प्रदेश में आकर रहने के उपरान्त अपनी आर्य सभ्यता और संस्कृति को यहाँ विकसित करने के निमित्त तथा तमिल संस्कृति की विशेषताओं को कम करने के उद्देश्य से उनके द्वारा अपनाये गये प्रयासों के फलस्वरूप उठी यह कल्पना ही है। ऐसा मानना पड़ता है कि अगस्त्य के बारे में लिखी गयी पौराणिक कथायें एवं परशुराम के सम्बन्ध में लिखी गयी पौराणिक कथाओं का उद्देश्य भी इसी के आधार पर रहा है।" तमिलों का धर्म, सामाजिक जीवन, भाषा, साहित्य, आदतों, संस्कृति इन सभी क्षेत्रों में आर्य लोग दखल देकर उन्हें अपने अनुकूल बदलने के लिए प्रयत्नशील रहे। व्यक्तिवाचक नाम, ईश्वर के नाम, स्थान, नदी, पर्वत आदि के नाम सब आज तमिल प्रदेश में अपना मूल तमिल नाम खो चुके हैं। उनकी जगह आर्यों के अनुकूल संस्कृत नाम पाने लगे। 'मुदुकुन्ड्रम्' नाम आज वृद्धाचलम हो गया। आर्यों ने अपनी आदतों, रीतिरवाज़ों, परंपराओं को और अपनी भाषा संस्कृत को जितना ऊँचा उठाने का प्रयास किया उस में ये सारी बातें उनकी सफलता के लिए सहायक रहीं। उदाहरण के लिए विश्वामित्र महर्षि के पचास पुत्र रहे हैं। उनकी वंशपरंपरा में आयें लोगों को आन्ध्र, पुण्डरर, शबरर, पुलिन्दर, मुदिबर आदि नामों से पुकार कर उन सबको 'दास' के रूप में ऐत्रेय ब्राह्मण कहता है। संस्कृत के लिए व्याकरण रचनेवाले पाणिनी (लगभग ई.पू. 600)

उत्तर भारत के भूगोल की जानकारी तो रखते थे, वे नर्मदा नदी के दक्षिण में केवल कलिंग मात्र का उल्लेख करते हैं। लेकिन दक्षिण भारत का उल्लेख उस में नहीं है। उनके परवर्ती वैयाकरणीक का व्यायन (ई.पू. चौथी शताब्दी) अपने व्याकरण ग्रंथ में समस्त दक्षिण भारत का उल्लेख करते हैं। इसके आधार पर यह मानना पड़ता है कि उत्तर भारत के आर्य ई.पू. 600 के पश्चात् ही दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश में आकर निवास करने लगे हैं।

आदिकाल में मवेशियों को चराते हुए जीवन यापन करते हुए तथा अस्थिर जीवन बिताने वाले आर्य लोग गंगा नदी के तटवर्ती प्रदेशों में आकर बस गए हैं। वहाँ उन्होंने धीरे धीरे बड़े बड़े राज्यों की स्थापना की। वे अच्छा और सुखमय जीवन व्यतीत करते थे। अपनी एक अलग सभ्यता को विकसित करने में वे तत्पर थे। अपनी भाषा को समृद्ध किया। इन सब के बावजूद, उन्हें अपना निवास स्थान छोड़कर दक्षिण की ओर आने का क्या कारण रहा होगा? गंगा नदी तट पर उन्हें क्या बाधायें रही होंगी? उस युग में बाहरी आक्रमण का प्रश्न ही नहीं उठा था। ऐसी परिस्थितियों में अपना प्रदेश और निवास स्थान छोड़कर सुदूर पूर्व तमिल प्रदेश तक आने के लिए क्या ज़रूरत पड़ी होगी? दूसरे प्रदेश में जाकर बसने के लिए उनकी जनसंख्या में भी वृद्धि नहीं हुई तथा उनके सामने कोई विकट जीवन संकट भी नहीं आया था। मनुधर्म कहता है कि आर्यावर्त दक्षिणी छोर विन्ध्याचल है इसलिए दूसरे प्रदेशों पर आक्रमण कर उसे हथियाने का विचार भी आर्यों के मन में नहीं आया होगा। बहुत सोच विचार करने पर एक ही विचार तथा उद्देश्य से प्रेरित होकर वे दक्षिण की ओर यात्रा करने लगे होंगे। वह है अपनी सभ्यता, संस्कृति, विचार आदि को दूसरों तक फैलाने के एक मात्र उद्देश्य उनके विचार में रहा होगा। ऐसा सोचने के लिए गुंजाइश भी है। वे जहाँ जहाँ गए वहाँ उन्हें रहने को स्थान, खाने पीने की सुविधायें तथा शासनाधिकार देने के लिए तमिल प्रदेश के राजा लोग उनका साथ देने को तैयार थे। उन्हें अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनेकानेक अवसर भी उनकी प्रतीक्षा करते थे।

तीन हज़ार वर्ष पूर्व उत्तर भारत से पदयात्रा करते हुए दक्षिणापथ में प्रवेश करनेवाले श्रमण संत तथा बौद्ध भिक्षुओं के काल के पूर्व ही आर्यों की बस्तियाँ यहाँ अधिक संख्या में रही होंगी।[1] ये संन्यासी और संतमुनि लोग अलग अलग से तथा झुंड बनाकर भी तमिल प्रदेश में पहुँचकर शुरू में तपस्या में लीन रहकर बाद में अपने धार्मिक सिद्धान्तों को जनता के मध्य करने के कार्य में प्रवृत्ति रहे होंगे। तमिलनाडु के दक्षिणी छोर पर स्थित कुछ पहाड़ियों की गुफ़ाओं में ई.पू. तीसरी, दूसरी शताब्दी के, ब्राह्मी लिपि में लिखे उनके शिलालेख प्राप्त हुए हैं। तमिल प्रदेश में वे पंच पाण्डव पर्वत तथा पंच पाण्डवों के बिस्तर के नाम से ये गुफ़ायें प्रख्यात हुई हैं। भगवान बुद्ध के लिए "पाताल पाण्डव" का एक अन्य नाम भी प्रचलित था। अतः लगता है कि ये गुफ़ायें बौद्ध विहारों के रूप में रही होंगी। गुंटूर ज़िले के बट्टिप्रोलु नामक स्थल में प्राप्त शिलालेख से पता चलता है कि बौद्ध धर्म ई.पूर्व. तीसरी शताब्दी में दक्षिणभारत में पहुँच चुका था। अशोक के शासनकाल में कांचीपुरम् में बौद्ध धर्म प्रचलित था और उनकी बड़ी मान्यता थी।

मदुरै, तिरुनेलवेली आदि तमिल प्रदेश के ज़िलों में ई.पू. तीसरी, दूसरी शती के शिलालेख बहुत मिले हैं। शिलालेखों का तमिल भाषी विशेषज्ञ ऐरावतम् महादेवन् ने अपनी दीर्घकालीन गहरे अध्ययन तथा शोधकार्य के आधार पर इन पर बहुत विस्तार से लिखा है। उनकी अंग्रेज़ी पुस्तक "The Ancient Inscriptions of Tamil Nadu" हारवर्ड विश्वविद्यालय से कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुयी है। उस युग में श्रमण और बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार तमिल प्रदेश में हो चुका था। इससे प्रमाण हैं ये शिलालेख। चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में उत्तर भारत में द्वादश वर्ष

का अकाल पड़ा था इस कारण भद्रबाहु नामक श्रमण साधु अपने अनेक साथियों सहित दक्षिण की ओर यात्रा करते हुए कर्नाटक के मैसूर में आकर ठहर चुके थे। श्रमण धर्म के ग्रंथों में ये सारे विवरण प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् विशाखाचार्य नामक दिगम्बर श्रमण संत तथा उनके शिष्य चोल तथा पाण्ड्य प्रदेशों में आकर श्रमण धर्म का प्रचार करने लगे। पहले पहल तमिल प्रदेश की ओर आये श्रमण संत अकेले में, तपस्या करना ही अपना उद्देश्य मानते थे। लेकिन बाद में वहाँ आये श्रमण मुनि और संत लोग श्रमण धर्म के प्रचार-प्रसार को अपना प्रमुख उद्देश्य मानने लगे थे। उनमें से प्रमुख संत कुन्दाचार्य नामक श्रमण सन्यासी थे। तमिल में रचित प्रथम प्रबन्ध काव्य 'शिलप्पदिकारम्' तथा उसी समय रचा दूसरा प्रबन्ध काव्य 'मणिमेशलै' दोनों काव्यों में यह सूचना प्राप्त है कि तमिलनाडु में स्त्री और पुरुष दोनों संतों के लिए श्रमण पल्लियाँ यहाँ स्थापित हो चुकी थीं। श्रमण सन्यासी कर्नाटक प्रान्त में फैले हुए थे। उस प्रदेश में ई.सन् तीसरी शताब्दी में गंगवंश का शासन स्थापित होने के बहुत पूर्व ही श्रवण धर्म की नींव पक्की हो गयी थी। इसके अलावा चेर प्रदेशों तथा समुद्र तटवर्ती प्रदेशों में श्रवण, बौद्ध दोनों धर्मावलंबी संत एवं भिक्षुलोग अपने धार्मिक कार्यों को शुरू कर चुके थे। उनकी गुफायें तिरुवितांकूर के कुछ भागों में भी प्राप्त हैं।

तमिल प्रदेश में श्रमण एवं बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार बहुत तीव्र हो गया था और आग की तरह शीघ्र फैलने लगा, तो यहाँ के ब्राह्मण अपने वैदिक धर्म के तमिल प्रदेश में पुनः स्थापित करने के उद्देश्य से तीव्र रूप से क्रियाशील होने लगे। जैनों और बौद्धों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए संघर्ष करने लगे। तमिल भक्ति आन्दोलन के पीछे यही प्रमुख कारण भी था।[1] तमिल प्रदेश की ओर आर्यो ब्राह्मणों ने अपने को 'बृहदचरण' अर्थात् लंबी यात्रा करनेवाले यात्री अपने को कहने लगे। आज भी ब्राह्मण जाति का एक उपवर्ग बृहदचरण (Sub-sect-brahmin) तमिल प्रदेश में काफ़ी मात्रा में हैं।

तमिल प्रदेश पहुँचे आर्य लोग काल, स्थान और परिस्थितिवश तमिलों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध सूत्र बनाकर खुद तमिल ही बन चुके थे। तमिल प्रदेश की प्राचीन परंपराओं, आदतों, उनके रीतिरिवाजों और जीवन शैली को अपनाकर तमिलों के बीच घुलमिल गए। इस कारण मूल तमिल निवासी कौन और आर्य लोग कौन इस प्रकार के भेद भाव रहित एक नया समाज रूप लेने लगा था। कालान्तर में तमिल प्रदेश में बसे आर्य लोग संस्कृत को भूल चुके थे और तमिल को अपनी मातृभाषा के रूप में स्वीकार कर चुके थे। धीरे-धीरे समाज में ब्राह्मणों का वर्चस्व बढ़ता देखकर तमिल समाज में कुछ अन्य लोग अपने को भी आर्यजन कहकर अपना बडप्पन दिखाने में समर्थ हुए। 'आर्य' शब्द मूल रूप में श्रेष्ठ जन, उत्तम स्वभाव के व्यक्ति, आचार्य तथा सम्मानित बुद्धिजीवी आदि अर्थ में प्रयुक्त होता था। मूलतः यह कोई जाति (race) सूचक शब्द नहीं था। लेकिन 'दिवाकरम्' के परवर्ती काल में रचित 'पिंगल निघंटु' आर्य को म्लेच्छ कहता है। इसके लिए कोई उचित कारण रहना चाहिए। यह शोध का विषय है।

तमिलों के विदेशी संपर्क पर विचार करते समय ई. सन् प्रथम शताब्दी के प्रारंभिक तीन चार शताब्दियों में समग्र भारत वर्ष की राजनीतिक स्थिति कैसी रही इस पर भी विचार करना बेहतर होगा। भारत का इतिहास बताता है कि उत्तर भारत में ई.पू. चौथी शताब्दी में मगध साम्राज्य के चक्रवर्ती राजा के रूप में नंदवेश के लोग शासनारूढ़ थे। कुछ इतिहास बताता है कि नंदवंश के राजाओं ने तमिल प्रदेश पर भी आक्रमण किया था।

नंदवंश के बाद मौर्यवंश के शासक मगध साम्राज्य को हथिया कर उस पर अपना शासन चलाने लगे थे। उस युग में कोस वंश के राजा तमिल

प्रदेश के शासकों से दुश्मनी रखते थे। उनके साथ होकर मौर्यवंश के शासक तमिल प्रदेश पर चढ़ाई करने आये थे। लेकिन मोसूर का तमिल राजा पलयन ने उनपर विजय प्राप्त की और दुश्मनों को मार भगाया था। संगमकालीन तमिल काव्य संकलन 'अहनानूरु' के कवि मामूलनार नामक पुराकालीन तमिल कवि इस घटना की सूचना अपनी कविता में देते हैं। (देखेंः अहनानूरु पंक्तियाँ -- 251-281) इस कविता के प्रमाणों तथा अशोक के शिलालेखों से यह सूचना प्राप्त होती है कि मौर्य शासन चेन्नपट्टणम् तक फैल चुका था।

मौर्यों का दक्षिणी आक्रमण विजय में परिणत नहीं हो सका। कलिंग प्रदेश पर न आक्रमण करने का यह एक कारण माना जा सकता है। कि दक्षिण में उनका बड़ा विरोध हुआ; इसमें कोई शक नहीं। हाथी कुंभा का एक शिलालेख हमें बताता है कि (ई.पू. दूसरी शताब्दी) कि तमिल प्रदेश के राजाओं का एक सम्मिलित संगठन उनके विरोध में उठ खड़ा हुआ। इस संगठन ने मौर्यों के इस आक्रमण का डटकर सामना किया था। लेकिन इस बात का पता नहीं चलता कि कोसरों की सहायता के लिए आये मौर्यों का तमिल प्रदेश के आक्रमण के समय मोसूर पलयन् द्वारा वह पराजित हुआ, उस समय यह संगठन क्रियाशील रहा या नहीं।

उत्तर भारत में अशोक के शासनकाल में ही बौद्ध धर्म तथा आर्य संस्कृति तमिल प्रदेश में प्रवेश कर चुकी थी। आर्य भाषा तथा तमिल भाषा के मिलन से प्राकृत नामक नयी भाषा का जन्म यहाँ हुआ था। दक्षिण भारत में प्राकृत भाषा का प्रसार होने लगा था।

पुराकालीन तमिल प्रदेश में संगम युग का जब प्रचलन था, उस समय तमिल प्रदेश के उत्तर तथा उत्तर पश्चिम में शातवाहन वंश के समृद्ध शासकों की परंपरा चली। राजनीकि संगठन, शासन तंत्र की उत्तमता आदि में वे बहुत कुशल शासक भी थे। उनके साथ वाणिज्य करने आये सगर तथा ग्रीक लोग वहाँ ठहरकर उनकी परंपराओं, रीतिरिवाज़ों को अपनाने लगे थे। उन्हें शातवाहनों का एक शासक हाल जो कवि भी था, उन्होंने प्राकृत भाषा में 'गाथा सप्तसही' नामक प्रेम काव्य की रचना की। उसका समय ई. सन् प्रथम शताब्दी माना जाता है। वह श्रृंगार मुक्तक कवितायें जिस पर तमिल के संगम कविताओं के श्रृंगार मुक्तकों का प्रभाव परिलक्षित होता है। यह शोध का विषय है।

संदर्भ

1. तमिलनाडु का इतिहासः जन और संस्कृति : के.के. पिल्लै। **2.** V.R.R. Dikshitar : Studies in Tamil literature and History. **3.** Nilakanta shastri K.A. The Hisotry and Culture of the Tamils. **4.** P.T. Srinivasa lyengar : Tamils from the Early times to 600 A.D. **5.** Social History of Tamils : Dr. N. Subramanian **6.** तमिल सामाजिक इतिहास : डॉ. एम. शेषन्।

गुरु कृपा, 790 डॉ. रामास्वामी सलाय, के. के. नगर (पश्चिम), चेन्नै - 600078
मो.- 9444763055

●

पेड़-पौधों के जरिये प्रकृति सांस लेती है, प्रकृति जीवित रहती है तभी तक हमारा भी जीवन है।

जीना चाहते हो तो पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों और वृक्ष-लताओं को भी जीने दो।

प्राचीन भारत के परिधान

प्रो. राजेन्द्र गर्ग

सबसे पहले हम सिंधुघाटी सभ्यता के निवासियों की वेशभूषा पर चर्चा करते हैं। इस संदर्भ में प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डॉ. विमलचन्द्र पांडेय कहते हैं - "खुदाई में सुइयां मिली हैं लेकिन यह पता नहीं चलता कि सीने-पिरोने का काम अपने-अपने घर पर स्त्रियां ही करती थी अथवा आधुनिक दर्जी की भांति उनके विशेष कारीगर थे। परन्तु अन्य व्यवसायों को देखते हुए यह अनुमान होता है कि सिंधु प्रदेश में भी दर्जी की दुकानें रही होंगी। मूर्तियों, खिलौनों और मुद्राचित्रों पर अंकित वेशभूषा के विविध रंगों से सिद्ध होता है कि उस समय भी समाज में रंग-बिरंगे वस्त्र पहने जाते थे, अतः रंगरेजों का व्यवसाय काफी लोकप्रिय रहा होगा।"

उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा सभ्यता के समय सूई का प्रयोग शुरू हो चुका था अर्थात वस्त्रों की कटाई और सिलाई खूब होती थी। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर आर्यों के विभिन्न वस्त्र-परिधानों का उल्लेख किया गया है। वस्त्र के लिए ऋग्वेद में 'वायस' 'वसन' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। वे उत्तरीय के लिए 'अधीवास' और नीचे पहने जाने वाले अधोवस्त्र के लिए 'नीवी' शब्द का प्रयोग करते थे। भेड़ की ऊन के लिए ऋग्वेद में जगह-जगह उर्णा शब्द का प्रयोग किया गया है (ऋग्वेद 4.22.2)। लोगों में गांधार प्रदेश की भेड़ों का ऊन विशेष लोकप्रिय था (1.126.8)। ऋग्वेद युग में कसीदे के वस्त्र भी बुने जाते थे (4.36.7)। एक स्थान पर 'हिरण्यमान् अल्कान्' शब्द का भी प्रयोग किया गया है जो इतिहासवेत्ताओं के अनुसार सुनहरी जरी की लंबी अचकन के लिए किया गया है। ऋषि-मुनि सिर्फ मृग और बाघों के चर्म का ही प्रयोग करते थे। इस काल में क्षौम (सूत) के वस्त्र भी पहने जाने लगे थे तथा सिर पर उष्णीष (पगड़ी) पहनने का रिवाज भी समृद्ध लोगों में बढ़ रहा था।

सूत कातने का काम प्रायः स्त्रियां ही करती थीं (शतपथ ब्राह्मण 5.3.5.18 - एतद्स्त्रीणां कर्मयदूर्णा-सूत्र)। कपड़ा बुनने के लिए कर्घा जैसा कोई यंत्र भी था जिसके लिए तैत्तिरीय ब्राह्मण (2.1.4.2) में 'वेमन' शब्द का प्रयोग किया गया है। जो स्त्रियां कढ़ाई-बुनाई का कार्य करती थीं उन्हें 'पेशस्कारी' कहा जाता था (वाजसनेयी सं. 30)। वैदिक युग में धनी और शौकीन रंग-बिरंगे परिधान पहनते थे। ऋग्वेद में सामूल्ल (ऊनी कपड़े), पेशस् (कढ़े हुए कपड़े) परिधान, अत्क आदि विविध प्रकार के कपड़ों का उल्लेख पाया जाता है।

संस्कृत व्याकरण के विश्वप्रसिद्ध ग्रंथ पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के अध्ययन से भी हमें तत्कालीन वेशभूषा के बारे में काफी विवरण मिलता है। यह महाकाव्यों से भी कुछ पूर्व (छठी-सातवीं ई. पूर्व) का ग्रंथ है। वस्त्रों के लिए पाणिनि ने वसन, चीर, चेल, चीवर, आच्छादन आदि शब्दों का प्रयोग किया है। पाणिनि के युग में वस्त्रों की विविधता बहुत बढ़ गई थी। अभिजात धनी वर्ग के लोग अब रेशम के वस्त्र भी धारण करने लगे थे, जिसे 'कौशेय' कहते थे। अलसी के रेशे से बने वस्त्र को 'औमक' तथा ऊन से बने वस्त्र को 'ओर्णक' कहा जाता था। वैदिक साहित्य में कपास का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता परन्तु पाणिनि ने कपास के लिए 'तूल' शब्द का प्रयोग किया है (अष्टाध्यायी 4.3.143)। धोती के लिए अंतरीय और ऊपर पहने जाने वाले वस्त्र के लिए उत्तरीय शब्द प्रचलित थे। कमर में लपेटे जाने वाले वस्त्र को नीवी कहते थे। वह धोती जो पैरों के अंगूठे तक लटकी हुई हो 'आप्रपदीन' कहलाती थी। सादा कंबल 'पण्यकंबल' तथा अच्छे किस्म का कंबल 'प्रावार' कहलाता था।

अब हम उस युग की ओर आते हैं जब रामायण और महाभारत की रचना की जा रही थी। इतिहास में इस युग को महाकाव्य काल कहा जाता है। इस युग में वस्त्रों के अनेक नामों का प्रचलन था। अधोवस्त्र को 'वास' अथवा 'शाटी' कहा जाता था। ऊर्ध्ववस्त्र को उत्तरीय अथवा 'प्रावार' कहा जाता था। स्त्रियों के भी यही दो प्रमुख वस्त्र थे। महाभारत में बहुत से कुलीन पुरुषों को उष्णीष पहने हुए बताया गया है, किन्तु रामायण में उन्हें मुकुट पहने हुए ही बताया गया है। संभवतः मुकुट सिर्फ राजपरिवारों के पुरुष ही पहनते थे जबकि पगड़ी या उष्णीष सामान्य व्यक्ति भी पहनने लगे थे।

महाकाव्य युग में विविध रंगों के वस्त्र पहनने का रिवाज बढ़ चला था। स्त्रियों में रंगों के प्रति प्रारम्भ से ही आकर्षण रहा है। वाल्मीकि ने सूर्योदय के समय की पूर्व दिशा का वर्णन करते हुए उसकी तुलना 'कुसुमरसरंजित वस्त्रधारिणी नारी' से की है। इस ग्रंथ में सीता को पीले रेशम के वस्त्र धारण करने वाली बताया गया है (पीतकोशेयवासिनी)। विभिन्न समारोहों में श्रीकृष्ण पीत कौशेय धारण करते थे। पीताम्बर उनका प्रिय वस्त्र रहा ही है। वाल्मीकि ने रावण को भी पीतांबर धारण किए हुए बताया है। बलराम को नीले रंग के वस्त्र विशेष पसंद थे।

आश्चर्य की बात तो यह है कि महाकाव्य युग में लोगों ने अलग-अलग अवसरों और मन:स्थितियों के लिए विभिन्न रंगों के वस्त्र निश्चित कर लिए थे। उदाहरण के लिए मृत्यु संबंधी अवसरों पर काले वस्त्र धारण किए जाते थे क्योंकि यह रंग शोक का परिचायक है। परीक्षित ने संपूर्ण सूर्यवंश के विनाश के बाद जो यज्ञ कराया था उसमें उसके सभी पुरोहितों ने काले वस्त्र पहन रखे थे (महाभारत 1.52.1-2)। सन्यास और त्याग-तपस्या में लीन ऋषि मुनि काषाय वस्त्र धारण करते थे। वाल्मीकि के आश्रम में रहते समय सीता भी वैराग्य भाव के प्रतीक काषाय वस्त्र ही पहनती थी। इसी प्रकार युद्ध के अवसरों पर लाल रंग के वस्त्र धारण किए जाते थे क्योंकि लाल रंग रक्तपात और उग्रता का रंग है। रणभूमि की ओर प्रस्थान करते समय मेघनाद ने रक्त वर्ण के वस्त्र धारण कर लिए थे। सत्यवान के प्राण लेने आने वाले यमराज ने लाल वस्त्र पहन रखे थे (रामायण 2.27.9-11)। सफेद रंग के वस्त्र शुभ, कल्याण और विजय के प्रतीक थे। वाल्मीकि ने लिखा है कि त्रिजटा ने जब स्वप्न में राम-लक्ष्मण को श्वेतवस्त्रों में आते देखा तो उसे उनकी विजय निश्चित जान पड़ी।

रामायाण-महाभारत काल में कर्पास (कपास) का प्रयोग वस्त्र निर्माण में बढ़ गया था। क्षौम वस्त्र अलसी के धागों से बनता था। धनी वर्ग प्रायः कौशेय वस्त्र धारण करते थे। ऊनी कपड़े जो सर्दियों में पहने जाते थे 'और्ण' कहलाते थे। इसके अतिरिक्त अर्जिन (मृगचर्म), कुशीचीर, शाणी (सन का बना वस्त्र)

आदि से भी वस्त्र बनाए जाते थे। सूती वस्त्रों को बुनने, सिलने और रंगने के लिए देश में निपुण तंतुवाय, सूचीकार और रंगरेज थे। बुनने के लिए प्रयोग में लाए जाने वाले करघे को 'सुवेम' कहते थे (महाभारत 1.3.58) और सिलने के काम आने वाली सूई को 'सूची' (महाभारत 12.217.36) कहते थे। इसके अतिरिक्त महाकाव्यों में उपानह (चमड़े के जूते) और पादुका (लकड़ी से बनी) का भी विवरण मिलता है।

बौद्धयुग के विशाल साहित्य में हमें उस काल के वस्त्रों, वस्त्र निर्माण कला, वस्त्र निर्माण केन्द्रों आदि के बारे में विस्तृत चर्चा मिलती है। कई नगर अपने वस्त्र निर्माण के लिए ही जाने जाते थे। वहां बने हुए वस्त्र उस नगर के नाम से ही प्रसिद्ध हो गए थे। उदाहरण के लिए काशी में बनने वाला वस्त्र 'काशीय' नाम से मशहूर था और बंग (बंगाल) में बने वस्त्र 'बांगक' कहलाते थे। निश्चित रूप से वाराणसी उस युग का सबसे बड़ा वस्त्र निर्माण केन्द्र था। 'वाराणयेसक' उस जमाने में उच्चकोटि का वस्त्र माना जाता था (अंगुत्तर निकाय-3, जातक-3 पृ.11.6)। बौद्ध ग्रंथ 'महाबग्ग' में काशी के ऐसे वस्त्रों का उल्लेख हुआ है जो बहुत ही बारीक धागे से बुने जाते थे और जिनमें इतनी कसावट होती थी कि तेल भी आर-पार नहीं हो सकता था। गौतम बुद्ध का निर्वाण होने पर उनके शरीर को ऐसे ही काशी निर्मित वस्त्र में लपेटा गया था (महापरिनिब्बान सूत्त-5.26)। उस समय काशी में कौशेय, और्ण और क्षौम सभी प्रकार के विविध रंगों के वस्त्र बनते थे। इसी प्रकार कश्मीर और गंधार प्रदेश ऊनी कंबल और दुपट्टों के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। महाबग्ग में बताया गया है कि लोगों में शिवि राज्य के ऊनी दुशालों की बहुत मांग थी। पुण्ड्र देश (असम) में बनाया गया दुपट्टा श्याम रंग का होता था जिसे पौण्ड्रिक कहते थे। बर्मा और सुमात्रा में निर्मित दुशाले 'सौवर्ण कुंड्यक' कहलाते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दिए गए विवरण के अनुसार कोंकण प्रदेश के वस्त्र 'अपरान्तक', मदुरै के बने वस्त्र 'मादुर', कलिंग-उड़ीसा के 'कलिंगक', महिष्मती के 'महिषक', कोशांबी के 'वात्सक' कहलाते थे। कौटिल्य ने सात प्रकार के कंबलों का विवरण दिया है। पतंजलि ने कर्पाश (कपास), ऊमा, भंगा, कौशेय और ऊर्णा के तंतुओं से बने वस्त्रों का उल्लेख किया है।

बौद्ध युग में भी धोती पहले की तरह ही लोकप्रिय बनी रही। उत्तरीय (दुपट्टा) और ऊतरवास (धोती) उस जमाने के मुख्य परिधान बने रहे। स्त्रियों की साड़ी के लिए 'शाटक' शब्द प्रचलित था। बौद्ध ग्रंथ 'चुल्लबग्ग' के अनुसार स्त्री और पुरुष दोनों कंचुक पहनते थे जो आज के कुर्ते और कुर्ती जैसा रहा होगा।

विभिन्न प्रकार के परिधानों का स्वरूप तत्कालीन भित्तिचित्रों और मूर्तियों का अध्ययन करने से भी स्पष्ट होता है। उस युग की यक्ष मूर्तियों में चुन्नटदार धोती पहने हुए और कटि प्रदेश में कमरबंद लगाए हुए यक्ष बहुतायत से मिलते हैं। दक्षिण की मूर्तियों से पता चलता है कि तत्कालीन समाज में स्त्रियां साड़ी और नाभि के नीचे करधनी धारण करती थीं। कमरबंद स्त्रियां और पुरुष दोनों ही पहनते थे। भरहुत के चित्रों में स्त्रियां घुटने तक साड़ी पहने हुए हैं। बौद्धकाल में पगड़ी बहुत ही आम हो चुकी थी। ये पगड़ियां झालरदार, चूनरदार और रंग-बिरंगी होती थीं। कनिंघम की भरहुत प्लेट (3,4,14,21) में कुछ पुरुषों ने इतनी बड़ी पगड़ी पहन रखी है कि उनका पूरा सिर ढक कर वृहदाकार हो गया है। यही बात सांची की कलाकृतियों में भी देखी जा सकती है। शक और कुषाणों के आगमन के बाद उत्तरीय की जगह कोट पहनने का प्रचलन होने लगा था (भरहुत प्लेट 20,62,71)।

बौद्ध युग से ईस्वी सन् के प्रारंभ तक की शताब्दियों में विभिन्न पशुओं की खालों से जूते बनाने का उद्योग भी चमक रहा था। 'महाबग्ग' के अनुसार व्याघ्र, सिंह, चीते, गिलहरी आदि के चमड़े से

जूते बनाए जाते थे। आकार के अनुसार इन जुतों के कई नाम थे जैसे घुटबद्धक (घुटने तक का), पालिगुंठिम (पैर ढकने वाला), खलबद्धक (चप्पल जैसा), वृश्चिकालिक (बिच्छू के डंक जैसा नुकीला जूता) तथा तुलपुष्यक (रूई से भरा मोटा जूता)। चमड़े में कोमलता पैदा करने के लिए कच्चे चमड़े को तिल के कल्क से संयुक्त करते थे (महाभाष्य 5.2.9)।

गुप्त युग तक आते-आते वस्त्रों की दुनिया में जबर्दस्त वैविध्य और विकास हुए। मलमल जैसे महीन वस्त्र काफी प्रचलित हो चुके थे। ये वस्त्र इतने बारीक थे कि इनके पास सांस लेने से भी उड़ जाया करते थे। रघुवंश (16.43) में इन वस्त्रों को 'निःश्वासहार्य' बताया गया है। चीन से रेशमी वस्त्र भारत में बिकने आया करता था जिसे 'चीनाशुंक' कहा जाता था। धनी-मानी लोग इन रेशमी वस्त्रों के बीच-बीच में रत्न भी टांक देते थे (रघुवंश 16.43)। रघुवंश और कुमारसंभव दोनों ही काव्यों में बताया गया है कि लोग अपने दुकूल (रेशमी पटों) पर हंसों की आकृतियां भी चित्रित करा लिया करते थे। सफेद रंग के कपड़े इन दिनों भी शुभ और मंगलकारी माने जाते थे। लाल, नीले, श्वेत, श्याम और कुसुंभ (केसरिया) रंग के कपड़े विशेष लोकप्रिय थे।

उत्तरीय, अधोवस्त्र और वेष्टन (पगड़ी) अब भी पुरुष वेशभूषा के अनिवार्य अंग थे। चोली (कूर्पासक), घाघरा और उत्तरीय, ये तीनों स्त्रियों के वस्त्र थे। कूर्पासक को स्तनांशुक भी कहते थे। यह वस्त्र सिर्फ स्त्रियों के स्तनों को ही ढकता था और शेष वक्ष को अनावृत्त रखता था। पीछे की तरफ कसें बांधी जाती थी। मथुरा संग्रहालय की नारी मूर्तियों में यही वेशभूषा पायी जाती है। स्त्री का उत्तरीय यदाकदा अवगुंठन (घूंघट) के भी काम आता था। 'शाकुन्तलम्' में शकुन्तला दुष्यंत के राजमहल में पहुंचने पर उत्तरीय से ही सिर और मुख ढकती है। इस युग की पुस्तकों में एक ऐसे महीन रेशमी वस्त्र का उल्लेख मिलता है जो सांप की केंचुली की तरह हल्का होता था। इसे चीनी व्यापारी यहां बेचा करते थे। यह फूंक से उड़ने वाला था और इसका पता केवल स्पर्श से ही चलता था। इस वस्त्र से हजारों इन्द्रधनुषों की कांति बिखर जाती थी। राजश्री के विवाह समारोह पर यही कीमती वस्त्र जिसे 'नेल' कहा जाता था, खंभों पर लिपटाए गए थे (हर्षचरित)।

गुप्त सम्राटों की मुद्राओं से पता चलता है कि जामा और जैकेट जैसे वस्त्र उस युग में पहने जाने लगे थे। चीनी यात्री श्वानचांग लिखता है कि स्त्रियां एक लंबा वस्त्र धारण करती हैं जो उनके कधे को ढके रखता है। हेमचन्द ने उष्णीय (पगड़ी), अधोवस्त्र (धोती), प्रवारा (दुशाला), कंबल, कौपीन (लंगोटी), वासस (राजसी वस्त्र) आदि कई प्रकार के परिधानों का उल्लेख किया है।

इन सब विवरणों और प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कतिपय इतिहावेत्ताओं की यह धारणा निराधार है कि प्रचीन भारतीयों को सूई का प्रयोग करना नहीं आता था और इसलिए वे कटे और सिले वस्त्र नहीं पहना करते थे। वस्तुतः वस्त्र-विज्ञान में प्राचीन भारतीय अन्य देशों के निवासियों की अपेक्षा पिछड़े हुए नहीं थे। वस्त्रों की कटाई और सिलाई यहाँ भी होती थी, हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आम भारतवासी के उत्तरीय और अधोवस्त्र बिना कटे-सिले एक लंबे वस्त्र से ही बनते थे। संभवत शक, हूण, कुषाण और बैक्ट्रियन लोगों के आगमन के बाद वस्त्रों की कटाई-सिलाई आम तौर पर होने लगी थी।

(सेवानिवृत्त विभागाध्यक्ष-अंग्रेजी एवं उपाचार्य राज.पी.जी. कालेज, टोंक - राजस्थान)
54/8, मानसरोवर, जयपुर-302020,
मो. 09414646696
ई-मेल : rajendragargrp@gmail.com

●

श्रीलंका में बौद्ध धर्म के प्रचारक भारतीय विद्वान

पूनम* एवं सविता देवी**

बौद्ध धर्म मूलतः भारत से प्रारंभ होकर दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों तक पहुंचकर काफी प्रसिद्ध हुआ और आज भी एशिया के देशों में बौद्ध धर्म विद्यमान है और कभी दुनिया की करीब-करीब एक तिहाई आबादी बौद्ध हो गई थी। हर देश में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के पीछे निष्ठावान अनुयायियों का योगदान है।[1] प्राचीन काल से ही भारत और पड़ोसी देश श्रीलंका के साथ ऐतिहासिक, धार्मिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संबंध बने रहे। भारत बुद्ध की जन्मभूमि होने के कारण लंकावासियों के लिए तीर्थ-स्थली है। थेरवाद संप्रदाय श्रीलंका का राष्ट्रधर्म था जिसकी भाषा पाली रही।[2] यदि भारत के प्राचीन इतिहास और साहित्य का अवलोकन किया जाये तो श्रीलंका का जिक्र अनेक बार मिलता है। इसके ताम्रपणी, सिंहलद्वीप[3], राक्षसीद्वीप, पारसमुंद्र नाम भी मिलते हैं। भारतीय साहित्य में लंकावतार सूत्र में सर्वप्रथम लंका के नाम की जानकारी मिलती है जिसे यूनानी साहित्य में टैप्रोबन कहा गया है जो ताम्रपणी का ही एक रूप है।[4] सिंहली इतिहास के विद्वानों का मानना है कि अगाध बुद्धि सम्पन्न, भविष्य के जानने वाले नाथ, संसार के प्रदीप दयामय (बुद्ध) के कारण भारतवासियों एवं लंकावासियों का आपस में दोनों देशों के बीच आना-जाना लगा रहा। इसी के कारण यह द्वीप सुजनों से आद्रित एवं धर्मद्वीप के नाम से प्रख्यात हुआ।[5]

तृतीय बौद्ध संगीति के पश्चात सम्राट अशोक ने विभिन्न बौद्ध आचार्यों को धर्म प्रचारार्थ अनेक देशों और दिशाओं में भेजा। अशोक के शासनकाल 273-232 ईस्वी पूर्व में आधुनिक श्रीलंका (सिंहलद्वीप) में बौद्ध धर्म का प्रवेश माना जा सकता है।[6] अशोक ने अपने धर्म को शील के साथ संयुक्त कर इस धर्म की त्रिवेणी का प्रवाह संपूर्ण मानवता के उत्थान के लिए महत्वपूर्ण माना।[7] आचार्य मोग्गलिपुत्र तिस्स की अध्यक्षता में बौद्धों की जो तीसरी संगीति (महासभा) हुई थी उसमें संघ के आंतरिक मतभेदों को दूर किया गया और विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए एक विस्तृत योजना भी तैयार की गई थी। इस संगीति की योजनानुसार अनेक देशों में प्रचारकों की मंडलियाँ भेजने का निर्णय तत्कालीन परिस्थिति में एक बड़ा कदम था जिसकी प्रसन्नता का तत्कालीन ग्रंथों में बड़े ही मार्मिक ढंग से वर्णन किया गया है।

बौद्ध धर्म के अनुयायी जो विदेशों में गये उनका विस्तार से जिक्र सामंतपासादिक ग्रंथ में मिलता है। साथ-साथ ही वहां उन स्थविरों व आचार्यों के नाम भी दिये गये हैं जिनके नेतृत्व में ये मंडलियां प्रचार के लिए भेजी गई थी। जो प्रचारक-मंडली लंका में भेजी गई थी उसका नेता स्थविर महेंद्र अशोक का पुत्र था, इसके साथ-साथ जो अन्य स्थविर वहां भेजे गये थे उनके नाम इट्टिय, उत्तिय, सम्बल और भद्दसाल थे।[8] सम्भवतः बौद्ध धर्म को संपूर्ण विश्व में लोकप्रिय बनाने हेतु इसकी शुरुआत लंका से की गई जिसमें अशोक ने अपने पुत्र व पुत्री संघमित्रा को भिक्षु और भिक्षुणी के रूप में भेजा।

श्रीलंका में भारतीय संस्कृति के प्रसार का प्रश्न आता है तो अनेक भारतीय अनुश्रुतियों में अनेक संदर्भ मिलते हैं। रामायण के अनुसार भारतीय संस्कृति का संदेश सबसे पहले ले जाने वाले श्री रामचंद्र थे किंतु सिंहली इतिहास के विद्वान यह मानते हैं कि छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व काठियावाड़ (गुजरात) के एक राजकुमार ने जब इस क्षेत्र को देखा तो उसके मन में इसे आबाद करने का विचार आया। अतः इस टापू को बसाने का कार्य एक भारतीय द्वारा किया गया जिसका श्रेय राजकुमार विजय को जाता है। फिर तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व के मध्य में सम्राट अशोक ने लंका में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को भेजा।[9]

महेंद्र और संघमित्रा का लंका-गमन

धर्म की लालसा ने महेंद्र को लंका में जाने के लिये कटिबद्ध किया।[10] कुमार महेंद्र के साथ उपाध्याय मोग्गलिपुत्र (तिष्य) और प्रवज्या देने वाले महादेव (स्थविर) थे। संघमित्रा के साथ जाने वाली उनकी उपाध्याया प्रसिद्ध धर्मपाला और आचार्या आयुपाला थी।[11] लंका जाने से पूर्व इन दोनों ने अपनी माता के साथ-साथ अन्य संबंधियों से मिलने और उनकी इस आयोजन में अनुमति लेने का विचार किया। इस औपचारिकता में छ महीने का समय लगा लेकिन इससे उनका जाना निश्चित हो गया। महेंद्र की माता देवी जो उन दिनों विदिशा में रह रही थी अपने पुत्र से मिलकर अति प्रसन्न हुई। विदिशा में महेंद्र अपनी माता के बनवाये हुये वैदिशगिरि महाविहार में ही ठहरा क्योंकि उसने बौद्ध भिक्षु था।

विदिशा से महेंद्र सीधा लंका गया।[12] वहां अनुराधापुर से आठ मील पूर्व की ओर जिस जगह वह उतरा उसका नाम 'महिन्दतल' जाना जाने लगा। अशोक के संदेशों से लंका के सम्राट तिस्स काफी प्रसन्न हुये, वस्तुतः उनका मन पहले से ही बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षित होने लगा था। तिस्स मानस्वरूप महेंद्र के आगमन से अति प्रसन्न हुआ और स्वयं उनसे मिलने के लिये गये। जब आपसी मिलन हुआ तो एक सच्चे बौद्ध अनुयायी होने के कारण महेंद्र ने उसे 'चूलहतियपदोपम' सुत्त का उपदेश दिया। लंकाई सम्राट के लिए वह क्षण महत्त्वपूर्ण ही नहीं अपितु एक यादगार क्षण था। उसने चवालीस हजार अपने देशवासियों के साथ बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली।[13] देवानांपिय तिस्स (247-207 ईस्वी पूर्व) ने बौद्ध धर्म में असीम आस्था दिखाई और विश्वास दिलाया कि वे इस कार्य में अपना सभी प्रकार का सहयोग देंगे। इससे लंका में स्तूपों, चैत्यों और महाविहारों का तुरंत निर्माण प्रारंभ हो गया।

महेंद्र और संघमित्रा लंकावासियों का उत्साह देखकर काफी चकित हुये और ऐसे सौहार्दपूर्ण वातावरण में उनका भी दिल वहां पर ऐसा लगा कि लगभग 48 वर्षों तक धर्म के प्रचार में वहीं बराबर लगे रहे। दोनों बहन-भाई के साथ अनेक बौद्ध-विद्वानों के होने के कारण सारा देश बौद्धमय बनते देर नहीं लगी। दोनों भाई-बहन लंका में धार्मिक स्तर पर इतने व्यस्त हुये कि उनको न तो अपने माता-पिता, सगे-संबंधियों की कभी याद आई और न ही अपनी जन्म-भूमि को याद रखा। यह था उनकी समर्पण भावना का संदेश जिसकी चर्चा तत्कालीन ग्रंथों में भी की गई। अन्ततः उन्होंने अपना सांसारिक शरीर भी

वहीं पर छोड़ा। इसी क्रम में श्रीलंका के इतिहास में श्री लंका में बोधिवृक्ष का आरोपण और बुद्धदन्त का आनयन, ये दो घटनायें वास्तव में बड़ी महत्त्वपूर्ण रही हैं जो बौद्ध धर्म के सबसे बड़े सम्मान की सूचक थे।[14]

प्रचार-प्रसार के द्वारा वहाँ बौद्ध धर्म की उन्नति विलक्षण रूप से हुई जिसका परिणाम यह निकला कि लाखों लोगों ने बौद्ध धर्म को अपनाया और हजारों की संख्या में लंकावासी बौद्ध संघ में शामिल हो गए। अनेक स्थानों पर मठ और विहार बनने से बौद्ध धर्म की जड़ें और भी मजबूत हुई। इनके संचालन हेतु दान देने का प्रचलन प्रारंभ हुआ। सबसे पुराना महाविहार राजकुमार महेन्द्र द्वारा स्थापित महान मठ एक महत्त्वपूर्ण केंद्र बना जिसकी गणना बौद्ध के प्रमुख केंद्रों के रूप में की जाने लगी।[15]

संघमित्रा का लंका में पुनः प्रवेश

महेन्द्र और संघमित्रा की धार्मिक निष्ठा ने यहां के सम्राट के साथ-साथ उसकी रानी अनुला को भी प्रभावित किया जिसने अपनी अनेक सहचरियों के साथ बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की इच्छा प्रकट की लेकिन यह स्वीकार नहीं किया गया और उनको निराश होना पड़ा।[16] अतः तिस्स ने ऐसी स्थिति में अशोक के पास दूत भेजकर यह याचना की कि वह स्त्रियों को भिक्षुणी बनाने के लिए अपनी पुत्री संघमित्रा को पुनः भेजे और बोधिवृक्ष की एक शाखा लंका भेजे।[17] संघमित्रा कुछ समय लंका में ठहर भारत वापिस आ गई थी और तब उसे भी दीक्षा मिल चुकी थी। लंकाई सम्राट की प्रार्थना को अशोक ने स्वीकार कर लिया और अपनी बेटी को पुनः वहां भेज दिया।[18]

लंका में बौद्ध धर्म के प्रचार की पुष्टि अशोक के अभिलेखों के द्वारा भी होती है। दूसरे और तेरहवें अभिलेख के अनुसार अशोक ने ताम्रपणी (लंका) में चिकित्सालय, कूप और सड़कें आदि भी निर्मित करवाई। भारत की तरह वहां पर भी अनेक ग्रंथों की रचना हुई। सिंहली ग्रंथों में उल्लिखित तीन नाम मज्झिम, काश्यगोत्र और दुंदुभिस्वर के ऐतिहासिक अस्तित्व की जानकारी मंजूणापटल के लेख से प्रमाणित हो जाती है।[19]

तत्कालीन ग्रंथों में दिव्यावदान एक ऐसा ग्रंथ है जो अशोक की धार्मिक यात्राओं का विस्तृत विवरण प्रदान करता है।[20] जो भी बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेता था वह विहारों, मठों आदि में निवास करता था। नगरों की चहल-पहल से अब उनका कोई वास्ता नहीं रह जाता था। अतः नगरों के बाहर ही उनका निवास होता था। महेंद्र भी नगर के बाहर विशाल नंदन वाटिका में रहता था जहाँ आने वाले सिंहलियों को उपदेश देकर बौद्ध धर्म में शामिल कर लिया जाता था।[21] सम्राट तिस्स की याचना पर अशोक द्वारा भिजवाई बोधि वृक्ष की शाखा को सम्मानपूर्वक अनुराधापुर के एक विहार में रोपा गया जो महात्मा बुद्ध के ज्ञान प्राप्ति की द्योतक थी। उस शाखा से वट वृक्ष काफी बड़ा हो गया जो आज भी विद्यमान है और जिसकी गिनती आज भी विश्व के प्राचीनतम वृक्षों में की जाती है। महेन्द्र और संघमित्रा द्वारा लंका में लगाई गई यह शाखा आज बोधि वृक्ष की भाँति विशाल बन गई जिसकी आदर-सम्मान से लोग पूजा करते हैं।[22]

श्रीलंका में महास्थविर के पास पाँच सौ क्षत्रियों (इस्सर) ने जिस स्थान पर प्रव्रज्या ग्रहण की थी उस स्थान पर इस्सर श्रमणक (विहार) की स्थापना हुई। महास्थविर के पास पांच सौ वैश्यों ने जिस स्थान पर प्रव्रज्या ग्रहण की थी उसे वैश्यगिरी (विहार) नाम दिया गया। चैत्यपर्वत के विहारों में जिस गुफा में स्थविर महामहेन्द्र रहे उन गुफाओं का नाम महेन्द्र गुहा रखा गया।[23]

गुणभद्र

गुणभद्र ब्राह्मण कुल में जन्म लेने वाले ऐसे व्यक्ति थे जो धर्मान्ध ब्राह्मण थे लेकिन जब वे बौद्ध भिक्षुओं और विद्वानों की संगति में आये तो उनका एकदम हृदय परिवर्तन हो गया और बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। बौद्ध होकर बौद्ध ग्रंथों (शास्त्रों) का अध्ययन कर पहले वे सिंहल गये।[24] जहां पर प्रचार-प्रसार में

लीन होकर अनेक ग्रंथों का वहां की भाषा में अनुवाद भी किया।

गुणवर्मा

गुणवर्मा का जन्म काश्मीर के राज घराने में हुआ और उनकी शिक्षा-दीक्षा भी उसी के अनुरूप हुई। वे काश्मीर के सम्राट संघानन्द के पुत्र थे। कुछ ग्रंथों का अध्ययन करने के बाद वे बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षित हुये और काषाय वस्त्र धारण कर बौद्ध भिक्षु हो गये। वे विनयपिटक के विशेष आचार्य थे। वे सद्धर्म का प्रचार करने सिंहल गये। कुछ समय वहां ठहर कर फिर वे जावा चले गये[25] और बौद्ध धर्म की शिक्षा-दीक्षा के कार्य में संलग्न रहे।

चन्द्रगोमिन

चन्द्रगोमिन किस जाति से संबंध रखते थे ज्यादा जानकारी नहीं मिलती है लेकिन ऐसे तथ्य मिलते हैं जिससे ज्ञात होता है कि ये पांचवी शताब्दी ई. के उत्तरार्ध में उत्पन्न हुए थे। सद्धर्म का प्रचार करने लंका गये और वहीं पर कार्यरत रहे और उनकी मृत्यु भी वहीं पर हुई।

धर्मपाल

धर्मपाल मूलतः ब्राह्मण परिवार में जन्मे थे जो कट्टर ब्राह्मण धर्म का समर्थक थे और धर्म के प्रचार-प्रसार कांचीपुरी में करते थे। फिर बौद्ध धर्म ग्रहण करके वे लंका चले गये जहां पर उन्होंने महाबोधि सभा की स्थापना की और श्रीलंका में बौद्ध धर्म के पुनरुद्धार में एक प्रमुख विद्वान बने।[26] उन्होंने अनेक ग्रंथों के संस्करणों का संपादन करके उनको प्रकाशित करवाया जिससे उनकी लोकप्रियता काफी बढ़ी।

बुद्धघोष

बुद्धघोष की जाति के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं मिलती है लेकिन उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रसार में गहन रुचि प्रदर्शित की। पांचवी शताब्दी में वे लंका गये क्योंकि उन्होंने सुना था कि शास्त्रों पर वहां व्यापक टीकाएं मौजूद हैं। उनको पाली भाषा में विद्धत्ता प्राप्त थी जिससे अनुवाद करने, उन्हें संपादित करने और अपने स्वयं के कुछ विचारों को कृतियों में जोड़ने की अनुमति उन्हें प्राप्त हो गई थी। ये एक अच्छे विद्वान थे। अपनी उपयुक्तता प्रमाणित करने के लिए उन्होंने सबसे पहले विशुद्धि मग्गा या पंथ शुद्धि ग्रंथ की रचना की जिसकी तत्कालीन समय ज्यादा जरूरत थी। ध्यान और सिद्धांत का एक उत्कृष्ट सर्वेक्षण कर वे थेरवादी बौद्ध धर्म की एक अभिव्यक्ति बन गये।[27] वे कुमार गुप्त प्रथम के समकालीन प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य थे जिन्होंने नौसिखिए भिक्षुओं के लिए एक ध्यान प्राइमर के रूप में प्रसिद्ध विशुद्धिमग्गा (शुद्धि का मार्ग) नामक ग्रंथ की रचना की थी।[28] बुद्धघोष के विशुद्धिमग्गा की काफी प्रसिद्धि हुई और इसे थेरवादी बौद्ध धर्म का कोष माना जाने लगा।[29] इस कृति को आज भी पढ़ा जाता है क्योंकि जीवन जीने की पद्धति का इसमें विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके नवीन संस्करण भी अनेक बार प्रकाशित हुए हैं।

बुद्धदत्त

बुद्धदत्त मूलतः दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे लेकिन बौद्ध मत कि शिक्षाओं से काफी प्रभावित हुये और अन्ततः बौद्ध धर्म अपनाकर वे दक्षिण भारत के बौद्ध भिक्षु बने। उन्हें लंका में बौद्ध धर्म के प्रचार की जिम्मेदारी निभाने का दायित्व सौंपा गया जिससे वे लंका चले गये।

आचार्य ज्योतिपाल

आचार्य ज्योतिपाल बौद्ध धर्म अपनाकर सिंहल (लंका) में धर्म प्रचार करने के लिए गये। वहां जाकर वे वैपुल्यवाद सम्प्रदाय के दोषों का प्रतिपादन करने लगे। उनके इस प्रचार का यह परिणाम हुआ कि लंका से बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय की इस शाखा का लोप होता गया।[30]

सन्दर्भ

1. राजेश चंद्र, बुद्ध का चक्रवर्ती सम्राज्य, किताबघर प्रकाशन, न्यू दिल्ली, 2007, पृष्ठ 25। **2.** सुदर्शना सिंघल, भारत और एशिया के अन्य देश, चौखंबा विद्या भवन, वाराणसी, 1971, पृष्ठ 2। **3.** आर्य मंजुश्री

मूलकल्प (3 जिल्दों में), टी. गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, 1920-1925, जिल्द-2, 232.10-12। **4.** निकोलस, सी डब्ल्यू, कन्साइज हिस्ट्री ऑफ सिलोन, सिलोन यूनिवर्सिटी प्रेस, कोलंबो, 1961, इंट्रोडक्शन पृष्ठ 7। **5.** भदंत आनंद कौसल्यायन्, महावंश, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, 1942 प्रथम परिच्छेद पृष्ठ 7। **6.** अगनेलाल, बौद्ध साहित्य के विभिन्न आयाम, प्रथम संस्करण, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ 2008, पृष्ठ 79। **7.** राजबली पांडे, अशोक के अभिलेख, प्रथम संस्करण, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी, संवत 2022, शिलालेख संख्या 14 पंक्ति 8-10। **8.** सत्यकेतु विद्यालंकार, दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी एशिया में भारतीय संस्कृति, सरस्वती सदन, मसूरी, 1974, पृष्ठ 302। **9.** हरिदत्त वेदालंकार, भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त इतिहास, ए आर एस पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 2009, पृष्ठ. 66। **10.** सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारत, सरस्वती सदन, मसूरी, 1978, पृष्ठ 249। **11.** भदंत आनंद कौसल्यायन, महावंश, वही पञ्चम परिच्छेद, पृष्ठ 34। **12.** सत्यकेतु विद्यालंकार, भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, सरस्वती सदन मसूरी, 1968 पृष्ठ 230। **13.** सत्यकेतु विद्यालंकार, दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी एशिया में भारतीय संस्कृति, सरस्वती सदन, मसूरी, 1974, पृष्ठ 302। **14.** भागचन्द्र जैन भास्कर, बौद्ध संस्कृति का इतिहास, बौद्ध ग्रन्थ माला-3, आलोक प्रकाशन नागपुर 1972, पृष्ठ 363। **15.** पीटर हार्वे, एन इंट्रोडक्शन बुद्धिज्म, सेकेंड एडिशन, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस न्यूयॉर्क, 2013 पृष्ठ 197। **16.** सत्यकेतु विद्यालंकार, वही, पृष्ठ 249। **17.** के. ए. नीलकंठ, नंद मौर्य युगीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली-7,1969 पृष्ठ 248। **18.** पी. वी. बापट, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 60। **19.** महावंश, पी. टी, एस. लंदन, 1908, 13.2-6। **20.** दिव्यावदान 245, 16, 17, 20। **21.** सुदर्शना सिंघल, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 26। **22.** हरिदत वेदालंकार, वही 2009, पृष्ठ 66। **23.** भदंत आनंद कौसल्यायन वही विंश परिच्छेद पृष्ठ 206-207। **24.** सत्यकेतु विद्या लंकार, मध्य एशिया तथा चीन में भारतीय संस्कृति, सरस्वती सदन, मसूरी, 1980, पृष्ठ 179। **25.** सत्यकेतु विद्यालंकार, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 173। **26.** एडवर्ड ए. आयरन, इनसाइक्लोपिडिया ऑफ बुद्धिज्म, न्यूयॉर्क, 2000, पृष्ठ 159। **27.** पीटर हार्वे, वही पृष्ठ 197। **28.** एडवर्ड ए. आयरन, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 466। **29.** भागचन्द्र जैन भास्कर, वही पृष्ठ 53। **30.** सत्यकेतु विद्यालंकार, दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी एशिया में भारतीय संस्कृति, सरस्वती सदन, मसूरी, 1974, पृष्ठ 305।

***शोधार्थी, इतिहास विभाग**
बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, अस्थल बोहर, रोहतक
मो. 7404136189
****सहायक प्रोफेसर, इतिहास विभाग**
टीकाराम कालेज, सोनीपत, हरियाणा
मो. 9728626700

●

अंग्रेजों के जमाने में न्यायालय का एक कठघरा। अभियुक्त थे क्रांतिकारी उधम सिंह। उन्होंने जनरल डायर को गोली मारकर जलियांवाला बाग हत्याकांड का बदला लिया था। न्यायाधीश युवा क्रांतिकारी से प्रश्न कर ही रहे थे कि एक अंग्रेज युवती भीड़ चीरती हुई न्यायालय में उपस्थित हुई। न्यायालय से उसने क्रांतिकारी उधम सिंह से कुछ प्रश्न पूछने की अनुमति मांगी। अनुमति मिल गई तो उसने उधम सिंह से पूछा, 'तुम्हारी रिवाल्वर में तीन गोलियां शेष थीं। तुमने मुझ पर गोली क्यों नहीं चला दी? ऐसा करके तुम आसानी से भाग सकते थे। तुमने ऐसा क्यों नहीं किया?'

उधम सिंह इस अंग्रेज युवती को पहचान गए। उसी के कारण वे गिरफ्तार हुए थे।

उन्होंने नम्रता से कहा, 'बहन! हम भारतीय हैं। नारी पर हाथ उठाना हमारी संस्कृति के खिलाफ है। इस कारण मैंने आप पर कोई वार नहीं किया।'

प्राचीन भारत में व्यावसायिक संगठनों का सांस्कृतिक अवदान

डॉ. आनन्द कुमार शर्मा

व्यावसायिक संगठन, प्राचीन भारत के सांस्कृतिक तानेबाने के महत्वपूर्ण अंग थे। प्राचीन भारत के सांस्कृतिक जन-जीवन के विकास में उनके अवदान को स्वर्णाक्षरों में अंकित किया जा सकता है। प्राचीन भारत के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जन-जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यावसायिक संगठनों ने आधारभूत और कालजयी भूमिका निभायी थी। प्राचीन भारत में व्यावसायिक संगठनों के शक्तिशाली होने के कारण, उन्होंने तत्कालीन समाज के प्रत्येक पहलू पर अपना निर्णायक हस्तक्षेप किया। इन्हें राजकीय मान्यताएँ प्राप्त थी एवं शासन की नीति-निर्धारण में इनके मत को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता था। व्यावसायिक संगठनों के नियमों में कानून की शक्ति थी और राजा तथा शासन द्वारा उनका समर्थन किया जाता था। व्यावसायिक संगठनों को अपने निजी सदस्यों पर न्याय संबंधी अधिकार प्राप्त थे जिनकी मान्यता राज्य को भी स्वीकार थी। व्यावसायिक संगठन प्राचीन भारत में राज्य शासन को आर्थिक एवं सैन्य सहयोग करने के साथ-साथ समाज में अनेक लोकहित कार्यों के लिए वित्तीय सहयोग एवं दान करते थे।

इतिहास के अनुशीलन से विदित है कि भारत में व्यावसायिक संगठनों के उद्‌भव का इतिहास सिन्धु घाटी की सभ्यता से माना जा सकता है। **पुरातात्विक साक्ष्य** ऐसे प्रमाण प्रस्तुत करते है जिनसे सिन्धु घाटी सभ्यता में ठोस व्यावसायिक ढाँचे का अनुमान लगाया जा सकता है। नगरीकरण सैन्धव सभ्यता के स्वरूप की मुख्य विशेषता थी जो कि विकसित एवं जटिल आर्थिक संगठन का परिचायक है। व्यापारिक क्रिया-कलाप जल, थल दोनों मार्गों से होता था। मुहरों तथा एक जैसी बाट-माप प्रणाली ने व्यापार के विकास में योगदान दिया था। मिट्टी, धातु एवं पत्थर की मूर्तियां बनाने की कला में दक्ष शिल्प के प्रमाण मिलते हैं। सैन्धव समाज के शिल्पियों में कसेरों (कांस्य-शिल्पियों) के समुदाय का महत्वपूर्ण स्थान था। व्यावसायी वर्गों में कुम्हार, जुलाहे, बढ़ई, सुनार, जोहरी, हाथी दाँत पर काम करने वाले आदि महत्वपूर्ण थे। सैन्धव सभ्यतावासी संभवतः सूत कातने वाले एवं कपड़े बुनने वाले विश्व के सर्वप्रथम लोग थे। सिन्धु प्रदेश में कुम्भकारों का एक अपना विशिष्ट वर्ग था। वह नगरों के बाहर ही रहता था और वहीं अपना व्यवसाय करता था। उत्खनन में कुम्भकारों के अनेक भट्ठे

मिले हैं। मोहनजोदड़ो में 6 और हड़प्पा में 14 भट्ठे मिले हैं। मिट्टी के बर्तनों की विविधता को देखकर गार्डन चाइल्ड ने कहा था कि वे विश्व सभ्यताओं में सिन्धु सभ्यता की पृथक पहचान स्थापित करते हैं। सिन्धु प्रदेश में चन्हूदड़ों और लोथल में 'मनके' निर्माण करने का एक कारखाना मिला है। ये विदेशों को भी भेजे जाते थे। सिन्धु निवासियों ने गुरियन (मनके) निर्माण कला में जितनी उन्नति की थी, तत्कालीन अन्य देशों में देखने को नहीं मिलती है।[1]

पुराविदों को व्यवसायियों द्वारा अपने उत्पाद को व्यापारिक नगरों तक पहुंचाने के प्रमाण मिले हैं। साथ ही इस बात के भी पुरातात्विक प्रमाण हैं कि सैन्यध सभ्यता के लोग विदेशों यथा इजिप्ट एवं मेसोपोटामिया को अपना सामान निर्यात करते थे। पुराविदों की ऐसी मान्यता है कि इन सब व्यवस्थित क्रियाकलापों के पीछे कोई न कोई व्यावसायिक संगठन का ढाँचा अवश्य रहा होगा। साथ ही व्यापारिक वस्तुओं की गांठों पर शिल्पियों एवं व्यापारियों द्वारा अपनी मुहर की छाप लगाने की प्रथा थी। लोथल से प्राप्त अनेक विशिष्ट मुद्रांकों से इस बात की पुष्टि होती है।[2]

प्राचीन भारतीय साहित्य में व्यावसायिक संगठनों के व्यापक प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेद से प्रारंभ होकर ऐसे प्रमाण बाद के ग्रंथों में प्रचुरता से मिलने लगते हैं, जहाँ व्यावसायिक संगठनों एवं व्यापारियों की संस्थाओं के लिये अनेक शब्द प्रयुक्त हुये हैं। प्राचीन साहित्य में व्यावसायिक संगठनों या व्यापारियों की संस्थाओं को कुल, पूग, निकाय, जाति, व्रात, संघ समुदाय, समूह, संभूय-समुत्थान, परिषत, वर्ग, गण, सार्थ, निगम, श्रेणी आदि कहा जाता था।[3] ऋग्वेद में वर्णित है कि 'श्रेणी' समूह में कार्य करती है।[4] वस्तुतः श्रेणी संस्था का समस्त आर्थिक कार्य उसके समूह के माध्यम से होता था। ऋग्वेद में 'गण' और 'व्रात' शब्दों का उल्लेख मिलता है जो संभवतः व्यावसायिक संघ रहे हों, किन्तु यह निश्चित है कि बाद में इन शब्दों का प्रयोग व्यावसायिक संगठनों के लिये हुआ।[5]

'पणि' जैसे व्यापारियों का भी उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है जो सुरक्षा को ध्यान में रखकर समुह में व्यापार के लिये जाते थे। 'श्रेष्ठि' और 'गण' जैसे शब्दों का उल्लेख वैदिक ग्रंथों में हुआ है जो क्रमशः श्रेणी के मुखिया और नैगम संगठन की ओर इंगित करते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद में वर्णित है कि परमदेव ने 'विश' (वैश्य) की सृष्टि की, जो गणों में संगठित हुये।[6] सहयोग और सहकारिता के आधार पर वैश्य धनोपार्जन करते थे इसीलिए उन्हें 'गणों' में संगठित होना आवश्यक था। ऋग्वेद, वाजसनेयी संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि में 'वणिज' शब्द का प्रयोग हुआ है।[7] अथर्ववेद में वर्णित है कि देश के व्यापारी अपनी सामग्री के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमा करते थे। कभी वे अपनी वस्तु बेचते थे और कभी उनका विनिमय करते थे।[8] रामायण एवं महाभारत में भी श्रेणी का प्रयोग व्यापारियों के संगठन के अर्थ में किया गया है।[9]

कौटिल्य ने शिल्पकारों के समूह को 'श्रेणी' कहा है। उसने कृषि, व्यापार और सैन्य कार्य करने वाले लोगों की सहकारी संस्था को भी 'श्रेणी' कहा है।[10] वीरमित्रोदय में एक समान शिल्प पर जीवनयापन करने वाले वर्ग के संगठन को 'श्रेणी' कहा है।[11] नारद ने भी व्यवसायियों की सहकारी संस्था को 'श्रेणी' कहा है। बौद्ध साहित्य में 'पूग' शब्द का प्रयोग 'सहकारी संघ' के अर्थ में उल्लेख हुआ है। 'कौषीतकि ब्राह्मण' में 'पूग' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है।[13] पाणिनी, याज्ञवल्क्य, मिताक्षरा, वीरमित्रोदय ने भी 'पूग' का उल्लेख किया है। कात्यायन ने वणिकों के समूह को 'पूग' कहा है।[14] इस प्रकार समाज में व्यावसायिक संगठनों की मजबूत स्थिति बन चुकी थी और वे समाज के सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन के निर्माण में अभूतपूर्व योगदान दे रहे थे। बौद्ध साहित्य में अनेक व्यवसायों और

शिल्पों से संबंधित अनेक व्यावसायिक संगठनों का उल्लेख हुआ है। ऐसे व्यावसायिक संगठनों को निगम, संघ, पूग, श्रेणी, गण आदि कहा जाता था।[15] जातकों तथा अन्य साहित्य में अनेकानेक वृत्तियों को अपनानेवाली श्रेणियों का वर्णन है, जिनकी संख्या 18 या उससे भी अधिक दी गई है। 'दीघनिकाय' में 24, 'महावस्तु' (राजगीर में रहने वाले) में 36 तथा मिलिन्दपन्हों में 75 प्रकार के व्यवसायों का उल्लेख किया गया है। एक प्रारंभिक जैन ग्रंथ में एक धनी कुम्भकार 'सद्दलपुत्त' का उल्लेख है जो 500 कुम्भकारों के उद्योग केन्द्र का अधिकारी था और उसके पास नावों का एक बड़ा बेड़ा था जिसके द्वारा उसके मृतिका पात्र समस्त गंगावर्ती क्षेत्र में वितरित किये जाते थे, उसकी अपनी वितरण व्यवस्था थी।[17] 'कुलीनचित्तजातक' में 500 बढ़ई परिवार वाले ग्राम का उल्लेख है। एक अन्य जातक में 1000 परिवारों के बढ़ई ग्राम का उल्लेख है। सुचिजातक में कुम्हारों (कुम्भकारों) के दो ग्रामों का वर्णन है जिनमें 1000-1000 कुम्हार परिवार निवास करते थे।[18]

मौर्यों के शासनकाल में राजनीतिक एकता तथा शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के नियंत्रण से व्यवसायों को प्रोत्साहन मिला। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित है कि व्यावसायिक संघों की देखभाल के लिये तीन प्रदेष्टा (अमात्य) नियुक्त किये गये। अर्थशास्त्र में वर्णित है कि 'अक्षपटलाध्यक्ष' व्यावसायिक संघों के धर्म, चरित्र और व्यवहारों को नियंत्रित करता है और यह इन संघों को निबंधित (रजिस्टर्ड) भी करता है।[19] मौर्यकाल में व्यावसायिक संघों की स्थिति काफी मजबूत हो गयी थी और शासन की रीति-नीति से इन्हें आगे बढ़ने का बड़ा मौका मिला। गुप्तकाल में व्यावसायिक संगठनों को और अधिक स्वतंत्रता मिली साथ ही शासन ने इनके आंतरिक मामलों में इन्हें पहले से अधिक स्वतंत्रता प्रदान की। व्यावसायिक संगठनों के अपने चिह्न, मुद्रायें और ध्वज भी होते थे।[20]

सिन्धु सभ्यता, वैदिक युग तथा 600 ई. पू. भगवान बुद्ध से सन 400 गुप्तकाल तक के प्राचीन भारत के इन व्यावसायिक संगठनों के सांस्कृतिक जनजीवन में महत्त्वपूर्ण अवदान को निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है।

1. राजनीतिक-प्रशासनिक प्रबंधन में अवदान

व्यावसायिक संगठनों की प्राचीन भारत के राजनीतिक एवं प्रशासनिक प्रबंधन में महत्वपूर्ण भूमिका थी। प्रसिद्ध इतिहासविद डॉ. रामशरण शर्मा का मानना है कि सैन्धव-सभ्यता (हड़प्पा संस्कृति) के शासकों का ध्यान विजयों की ओर उतना नहीं था जितना वाणिज्य की ओर, और हड़प्पा का शासन संभवतः वणिक वर्ग के हाथ में था।[21] किन्तु भारतीय साहित्य व्यावसायिक संगठनों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं का उल्लेख नहीं करता। इसका कारण राजकीय सहायता तथा राजा की ओर से किसी प्रकार का विरोध न होने के कारण श्रेणिपतियों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं का कुंठित नहीं होना रहा होगा।[22] प्राचीन भारतीय राजतंत्र की प्रशासनिक संस्थाओं में व्यापारियों के प्रतिनिधियों को सलाहकार के रूप में नियुक्त किया जाता था, उनकी मंत्रणा को प्रशासनिक क्रियाकलापों में प्रमुख स्थान प्राप्त था। बौद्ध साहित्य से विदित है कि व्यवसायों के प्रमुख अपने समुदाय की और शिल्पगत समस्याओं में राजा को सलाह देते थे। वे विपत्ति के समय राजा की आर्थिक सहायता भी करते थे।[23] प्राचीन काल में व्यावसायिक संगठन अत्यधिक शक्तिशाली हो गये थे। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है कि श्रेणी मुख्य, एक सुदृढ़ संगठन के नेता होने के कारण शासन के लिये विपत्ति भी उपस्थित कर सकते हैं, अतः उन पर नजर रखना चाहिए। महाभारत में भी राजा को सलाह दी गयी है कि उनके प्रति राजा को सचेत रहना चाहिए। गुप्तचरों से इनकी गतिविधियों का ज्ञान प्राप्त करते रहना आवश्यक है। ये उत्कोच देकर अमात्यों को भ्रष्ट कर सकते है।[24]

2. आर्थिक प्रबंधन में अवदान

प्राचीन भारत के आर्थिक प्रबंधन में व्यावसायिक संगठनों का अभूतपूर्व योगदान था। राज्य को वस्तुओं के मूल्य एवं आर्थिक कार्य के स्तरों का नियंत्रण करने में बड़ा सहयोग देते थे। आर्थिक संघों ने उद्योग तथा वाणिज्य का संगठन से भारत की अर्थव्यवस्था में उतना ही महत्वपूर्ण कार्य किया जितना इसने प्राचीन अथवा मध्ययुगीन सभ्यता की अर्थव्यवस्था में किया।[25] प्राचीन भारत में विभिन्न व्यावसायिक संगठन अपनी मुद्राएँ चलाते, बैंक के रूप में काम करते, ऋण देते एवं समाज की अन्य सभी आर्थिक गतिविधियों का संचालन करते थे। तक्षशिला, वाराणसी, सारनाथ, नालन्दा, कौशाम्बी, वैशाली आदि अनेक स्थानों से आर्थिक संघों की मुद्राएँ मिली हैं। इससे स्पष्ट है कि मुद्रा-व्यवस्था के विकास में इन्होंने महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया। डॉ. ब्लाख, जिन्हें वैशाली से मिट्टी की मुहरें मिली थी, का कहना है कि 'आधुनिक चैम्बर ऑफ कॉमर्स' की भांति कोई संस्था उत्तर भारत के किसी बड़े व्यापारिक केन्द्र, संभवतः पाटलिपुत्र में भी थी।[26]

आर्थिक संघ व महाजन, वित्त प्रबंधक तथा व्यापारी के रूप में कार्य करते थे। सातवाहन काल में श्रेणियों के आधुनिक बैंक के रूप में कार्य करने के प्रमाण मिलते हैं। ईसा की दूसरी सदी में महाराष्ट्र में चौबीस-पच्चीस श्रेणियां ऐसी थी, जिनके पास रखे धन के ब्याज से बौद्ध भिक्षुओं और ब्राह्मणों को भोजन, वस्त्रादि अन्य आवश्यक वस्तुएँ दी जाती थी।[27] 'कुमारसम्भव' और 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में भी निगमों की बैंक प्रणाली का संदर्भ मिलता है।[28] इन निगमों के पास सामान्य जन अपनी बहुमूल्य वस्तुओं को निक्षेप के रूप में जमा करते थे, यहां तक कि स्वयं राजा और राजपुरुष भी अपनी संपत्ति को धरोहर के रूप में रखने में संकोच नहीं करते थे। निगम इन पर ब्याज भी देते थे।[29] 120 ई. के नासिक अभिलेख में उल्लेखित है कि शक शासक नहपान के जामाता उषवदात ने गोवर्धन में जुलाहों की एक श्रेणी में 2000 कार्षापण और दूसरी में 1000, क्रमशः 12 और 9 प्रतिशत ब्याज की दर से जमा कराया था।[30] नासिक के ही तीसरी सदी के अभिलेख में वर्णित है कि श्रेणियों के पास जमा धन के ब्याज से संघाराम में निवास करनेवाले रोगियों की औषधि आदि की व्यवस्था की जाती है।[31]

राज्यों द्वारा भी आर्थिक संघों को आवश्यक कानूनी संरक्षण प्रदान किया हुआ था। विपत्ति और संकट के समय राज्य को इन श्रेणियों से ऋण भी प्राप्त होता था। आर्थिक संघों के साथ किसी भी धोखा-धड़ी पर कठोर दण्ड का प्रावधान राज्यों ने किया था। इन संघों की संविदा को भंग करने वाले को देश-निर्वासन, कैद, अर्थदण्ड आदि दिया जा सकता था।[32] याज्ञवल्क्य स्मृति एवं विष्णु पुराण में भी इन संघों के साथ बेईमानी करने वालों को कठोर दण्ड देने की व्यवस्था है।[33]

3. न्यायिक प्रबंधन में अवदान

व्यावसायिक संघों को वैधानिक एवं न्यायिक अधिकार भी प्राप्त थे, जिन्हें शासन से मान्यता प्राप्त थी। श्रेणी, सदस्यों के व्यवहार को न्यायाधिकरण के माध्यम से नियंत्रित करती थी। श्रेणी-न्यायालय सदस्यों की गतिविधियों पर नजर रखता था तथा नियमों के उल्लंघन पर दण्ड देता था।[34] 'पादताडितक भाण' में वर्णित है कि सार्वभौमनगर के विटों की परिषद में विष्णुनाग ब्राह्मण और उसकी रखैल वेश्या मदनसेनिका से संबंधित विवाद का निर्णय विटों के जेठ्ठक 'भट्टजीमूत' ने किया था।[35] गौतम ने भी संघों के आचार-विचार और रीति-रिवाजों पर उनके विधान का समर्थन किया है।[36] नारद ने श्रेणी न्यायालय को चार सामान्य न्यायालयों में दूसरा स्थान दिया है।[37] वस्तुतः संघ की निर्णयकारिणी सभा जातीय पंचायत के समान एक पथभ्रष्ट सदस्य का निष्कासन कर सकती थी जो एक ऐसा दण्ड था जिससे वह अपने पूर्वजों का व्यापार करने से वंचित

कर दिया जा सकता था और नितान्त भिक्षावृत्ति की स्थिति को प्राप्त हो जाता था। बौद्ध साहित्य में ऐसी संघीय न्याय-सभाओं का उल्लेख प्राप्त होता है जो अपने सदस्यों और उनकी पत्नियों के विवाद शांत किया करती थी।[38]

4. सैन्य प्रबंधन में अवदान

व्यावसायिक संगठनों ने अपनी सुरक्षा करने के लिए निजी सेना का गठन भी कर रखा था, जिन्हें राजकीय मान्यता भी प्राप्त थी। आपत्तिकाल में इनकी सेनाएँ राजा को भी सैन्य सहयोग प्रदान करती थी। महाभारत में 'श्रेणिबल' को मित्रबल, मौलबल और भृत्यबल के समान कहा गया है।[39] रामायण में 'सयोध श्रेणी' का उल्लेख मिलता है।[40] कौटिल्य ने भी 'श्रेणीबल' का उल्लेख किया है।[41] बृहस्पति एवं याज्ञवल्क्य ने भी श्रेणियों की सैन्य शक्ति का वर्णन किया है।[42] मंदसौर अभिलेख में रेशम बुननेवाली श्रेणी के लोगों का धनुर्विद्या में पारंगत अच्छे योद्धाओं के रूप में वर्णन है।[43]

5. सामाजिक प्रबंधन में अवदान

व्यावसायिक संगठनों ने प्राचीन भारत के सामाजिक प्रबंधन में महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली भूमिका निभायी। सामाजिक रूप से व्यावसायिक संघों का अपने सदस्यों पर व्यापक नियंत्रण होता था। यदि कोई स्त्री बौद्ध भिक्षुणी बनना चाहती थी, तो उसे अपने पति के व्यावसायिक संघ से पहले आज्ञा लेनी होती थी। इस प्रकार संघ अपने सदस्यों के आर्थिक ही नहीं अपितु सामाजिक जीवन पर भी अधिकार रखता था। सदस्यों की विधवाओं एवं अनाथों के अभिभावक के रूप में तथा उनकी रुग्णावस्था की सुरक्षा के आश्वासन के रूप में भी यह कार्य करता था। इस क्षेत्र में उनके अधिकार तथा कार्य आधुनिक जातीय पंचायतों के अनुरूप थे।[44] व्यापारिक संघों ने समाज में अनेक जनकल्याणकारी कार्य करके अपने सामाजिक दायित्वों का निर्वहन किया। विश्रामगृह, पंथशाला, सभागृह आदि बनाने के विभिन्न प्रकार के जनकल्याणकारी कार्य श्रेणी संगठनों द्वारा देश के विभिन्न स्थानों पर संपन्न कराए जाते थे।[45] इनके द्वारा दीन-दुखियों और निर्धनों को सहायता भी प्रदान की जाती थी। दुर्भिक्ष में पीड़ितों की रक्षा करना भी इनका कर्तव्य था। श्रेणियों द्वारा जनकल्याण किये जाने के अनेक अभिलेखीय प्रमाण मिलते हैं।

श्रेणियों ने विशिष्ट तकनीकी शिक्षा केन्द्रों के रूप में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। व्यवसाय उस समय वंशानुगत हो गये थे जिससे पीढ़ी-दर-पीढ़ी व्यवसायों में कलात्मक और गुणात्मक उन्नति होती रही।[47] इससे सदस्यों को सामाजिक असुरक्षा का भय नहीं रहा।

6. धार्मिक प्रबंधन में अवदान

प्राचीन काल में श्रेणियों ने अनेक धार्मिक कृत्यों को अंजाम दिया। उन्होंने न केवल धार्मिक व्यक्तियों के जीवन निर्वाह के लिए दान दिये अपितु अनेक धार्मिक कार्य भी किये। बौद्ध, जैन और हिन्दू धर्म के अनेक मंदिर और देवताओं की प्रतिमाएँ इन संगठनों के धार्मिक दान पर निर्मित की गई। इस संबंध में बौद्ध, जैन और हिन्दू साहित्य में अनेक प्रमाण मिलते हैं। ऐसे भी प्रमाण उपलब्ध हैं कि लोगों ने श्रेणियों के पास धन जमा कराया, जिसके ब्याज से विभिन्न धर्मों के ऋषियों, ब्राह्मणों, भिक्षुओं आदि को भोजन-वस्त्रादि की व्यवस्था की जाती थी।[48] मन्दसौर अभिलेख में वर्णित है कि रेशम के व्यापारियों ने सूर्य का एक भव्य मंदिर बनवाया तथा बाद में जीर्ण-शीर्ण होने पर उसी श्रेणी ने उसकी मरम्मत भी कराई थी।[49] 877 ई. ग्वालियर-अभिलेख में वर्णित है कि मंदिर के लिए तेलियों की श्रेणी तेल तथा मालियों की श्रेणी माला प्रदान करती थी।[50] इसी प्रकार का उल्लेख हम नासिक अभिलेख में भी पाते हैं।

संदर्भ

1. पाण्डेय डॉ. जे.एन. - पुरातत्व विमर्श, प्राच्य विद्या संस्थान, इलाहाबाद 2000, पृ. 402-405, पाण्डेय विमलचन्द्र- प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा

सांस्कृतिक इतिहास, भाग-1, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद 1998, पृ. 79-85, मजुमदार रायचौधरी, दत्त- भारत का बृहत् इतिहास, भाग-1, मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड, नई दिल्ली 1970, पृ. 16, शर्मा रामशरण - प्राचीन भारत, एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली, 1990 पृ. 63-64। **2.** पाण्डेय, डॉ. जे.एन. - पूर्वोक्त पृ. 405, 408-409, पाण्डेय, विमलचन्द्र पूर्वोक्त पृ. 96, शर्मा, रामशरण - पूर्वोक्त पृ. 64, मजुमदार रायचौधरी, दत्त - पूर्वोत्तर पृ.18। **3.** मिश्र डॉ. जयशंकर - प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 1992, पृ. 660, डॉ. कृष्ण कुमार - प्राचीन भारत की प्रशासनिक एवं राजनीतिक संस्थाएं, श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली, 1998 पृ. 205। **4.** ऋग्वेद, 1.163.10। **5.** ऋग्वेद 9.112.1, पाण्डेय विमलचन्द - पूर्वोक्त पृ. 145। **6.** बृहदारण्यक उपनिषद 1.4.12। **7.** ऋग्वेद 1.112.11, वाजसनेयी संहिता 30.17, तैत्तिरीय ब्राह्मण 34.14.1। **8.** पाण्डेय, विमलचन्द्र पूर्वोक्त पृ. 165। **9.** रामायण लंकाकाण्ड 129, महाभारत वनपर्व, 249-16। **10.** अर्थशास्त्र, 5.2 अर्थशास्त्र 2.4, अर्थशास्त्र 11.1। **11.** वीरमित्रोदय, 7.333। **12.** नारद स्मृति, 1.7। **13.** कौषीतकि ब्राह्मण 16.7। **14.** कात्यायन, 84 समूहों वणिजादीनां पूगः संपरिकीर्तितः। **15.** भिक्खुनी पतिमोक्ख, अध्याय 2। **16.** शर्मा, रामारण पूर्वोक्त पृ. 179, मिश्र, जयशंकर - पूर्वोक्त पृ. 661-62, डॉ. कृष्ण कुमार, पूर्वोक्त पृ. 206। **17.** बाशम, ए. एल. - अद्भूत भारत, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कंपनी, आगरा पृ. 155, थापर, प्रो. रोमिला - भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ. 99। **18.** विद्यालंकार, सत्यकेतु - प्राचीन भारत की शासन संस्थायें और राजनीतिक विचार, पृ. 263-64, डॉ. कृष्ण कुमार - पूर्वोक्त पृ. 207। **19.** झा एवं श्रीमाली - प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2000, पृ. 201, थापर, प्रो. रोमिला - पूर्वोक्त पृ. 98, डॉ. कृष्ण कुमार - पूर्वोक्त, पृ. 208 विद्यालंकार सत्यकेतु - पूर्वोक्त, पृ. 267। **20.** बाशम, ए. एल. - पूर्वोक्त, पृ. 156, डॉ. कृष्ण कुमार- पूर्वोक्त, पृ. 207। **21.** शर्मा, रामशरण - पूर्वोक्त पृ. 65। **22.** थापर, प्रो. रोमिला - पूर्वोक्त पृ. 100। **23.** मिश्र, डॉ. जयशंकर - पूर्वोक्त पृ. 662। **24.** महाभारत, शान्तिपर्व, 104.64। **25.** बाशम, ए.एल - पूर्वोक्त पृ. 155। **26.** मजूमदार, रमेशचन्द्र - प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1973, पृ. 404। **27.** थापर, रोमिला- पूर्वोक्त, पृ. 101, शर्मा रामशरण पूर्वोक्त, पृ. 181, मजूमदार, रायचौधरी दत्त - पूर्वोक्त, पृ. 118, झा एवं श्रीमान - पूर्वोक्त, पृ. 392। **28.** मिश्र, डॉ. जयशंकर - पूर्वोक्त, पृ. 665। **29.** डॉ. कृष्ण कुमार - पूर्वोक्त, पृ. 209। **30.** लुडर्स, सं. 1133। **31.** एपि. इं., 8.82-86। **32.** मनुस्मृति 8.29। **33.** याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.187, विष्णुपुराण 5.168। **34.** याज्ञवल्क्य स्मृति 2.187-190। **35.** डॉ. कृष्ण कुमार, पूर्वोक्त, पृ. 107-108। **36.** गौतम धर्मसूत्र, 11.20। **37.** नारदस्मृति, 1.7। **38.** बाशम, ए. एल. - पूर्वोक्त पृ. 155-156। **39.** महाभारत, वानवासिक पर्व, अध्याय 8। **40.** रामायण, 2.123.5। **41.** अर्थशास्त्र, पृ. 340। **42.** वृहस्पति 1.28-30, याज्ञवल्क्य, 2.30। **43.** कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, 80। **44.** बाशम, ए. एल.- पूर्वोक्त पृ. 156। **45.** बृहस्पति 17.11-12। **46.** वीरमित्रोदय, पृ. 423। **47.** थापर, प्रो. रोमिला - पूर्वोक्त पृ. 110, डॉ. कृष्ण कुमार - पूर्वोक्त, 206। **48.** मिश्र, डॉ. जयशंकर - पूर्वोक्त, पृ. 664, थापर, प्रो. रोमिला - पूर्वोक्त, पृ. 100 शर्मा, रामशरण - पूर्वोक्त, पृ. 181, डॉ. कृष्ण कुमार - पूर्वोक्त पृ. 209, बाशम. ए.एल. - पूर्वोक्त 156। **49.** एपि. इं. 3.80। **50.** एपि. इं. 1.159।

बालाजी विहार कॉलोनी,
गुड़ी गुड़ा का नाका,
लश्कर, ग्वालियर - 474 001
मो.- 9074606019, 9926292034
ई-मेल : anand.dr@gmail.com

●

पुरातात्विक स्थल नठारा की पाल : प्रारम्भिक रपट

डॉ. ललित पाण्डेय
डॉ. कुलशेखर व्यास

स्थल परिचय

राजस्थान में नठारा गाँव उदयपुर से लगभग 70 किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में $70^{0}47'$ पूर्वी देशान्तर तथा $24^{0}16'$ उत्तरी अक्षांश के मध्य स्थित है। नाठारा की पाल पुरातात्त्विक स्थल प्रातःस्मरणीय महाराणा प्रताप की राजधानी चावण्ड से उत्तर-पूर्व में लगभग 8 कि.मी. की दूरी पर है। भौगोलिक दृष्टि से यह स्थल अरावली पर्वत शृंखला की तलहटी में है। यह गाँव वर्षा के दिनों में बहने वाली गरगल नदी के पास स्थित है, जो मड़ास-धावड़ा घाटा से निकलती है। गाँव का क्षेत्रफल 5,527 हेक्टर्स है। यह न सिर्फ 'पाल' है बल्कि सबसे बड़ा गांव है, जो मगरे के भाग में स्थित है।

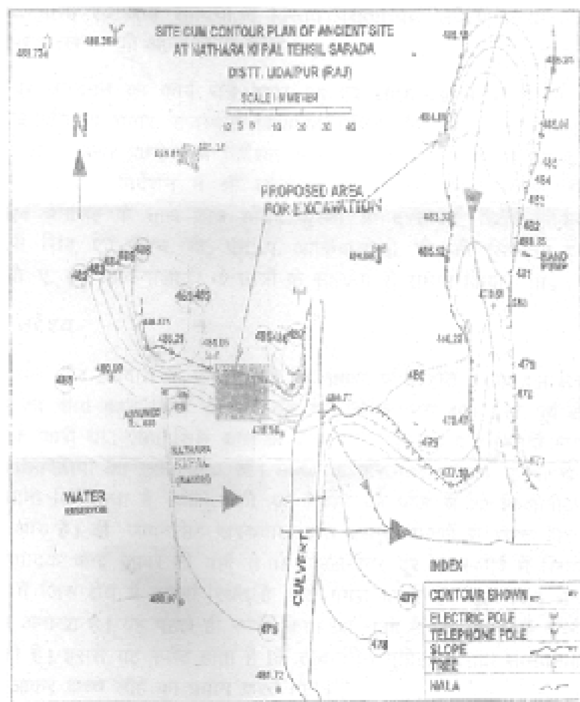

नठारा पुरातात्त्विक स्थल उत्तर-दक्षिण में लगभग 1(एक) किलोमीटर और पूर्व-पश्चिम में 1/2 (आधा) किलोमीटर के क्षेत्र में फैला हुआ है। इस पुरातात्त्विक स्थल की ऊपरी सतह पर प्राप्त लौहमल को देखकर लगता है कि इस स्थल पर लौह प्रौद्योगिकी का कार्य बड़े पैमाने पर किया गया है। यह स्थल कच्चे लोहे की खदान के बहुत नजदीक है। यह कच्चे लोहे की खदान इस स्थल से लगभग डेढ़ किलोमीटर की दूरी पर है,

जिसे बड़ाघाटी कहते हैं। राजस्थान सरकार के माइन्स एण्ड जियोलॉजी विभाग की जानकारी के अनुसार नठारा की पाल में कच्चे लोहे का जमाव अच्छी मात्रा में है, जो लगभग 11 मेटरिक टन है, जिसमें लोहे की मात्रा 48 प्रतिशत तक है।

इस महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक स्थल की खोज सत्र-1994-95 में साहित्य संस्थान, जनार्दनराय नागर राजस्थान विद्यापीठ (डीम्ड) विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.) के इतिहास पुरातत्त्व विभाग में कार्यरत श्री लालचन्द पटेल ने एक पुरातात्त्विक सर्वेक्षण में की थी। उस समय साहित्य संस्थान का पुरातत्त्व विभाग बालाथल में उत्खनन का कार्य कर रहा था। इस स्थल के बारे में जब पटेल ने अपने अन्य साथियों को बताया तो संस्थान के निदेशक डॉ. ललित पाण्डेय के साथ विभाग के डॉ. जीवनसिंहा खरकवाल, डेकन कॉलेज के प्रो. वी. शिन्दे, श्री प्यारेलाल मीणा एवं अन्य साथियों ने विस्तृत पुरातात्त्विक सर्वेक्षण किया तथा बाद में इस स्थल पर उत्खनन की आवश्यकता बताई।

इस स्थल पर उत्खनन का कार्य सत्र- 2007-08 एवं 2008-09 में दो चरणों में साहित्य संस्थान, जनार्दनराय नागर राजस्थान विद्यापीठ (डीम्ड) विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.) के निदेशक डॉ. ललित पाण्डेय के निर्देशन में तथा डॉ. जगदीश मीणा एवं डॉ. कुलशेखर व्यास के सहायक निर्देशन में श्री लालचन्द पटेल, डॉ. हेमेन्द्र चौधरी, श्री जगदीश पुरोहित एवं चैनसिंह के साथ छात्र शोयब कुरेशी, प्रमोद ठाकुर, हितेष बुनकर, सचिन दीक्षित, के.पी. सिंह एवं पीएच.डी., एम.ए. आर्कियोलोजी, पी.जी. डिप्लोमा इन आर्कियोलोजी एवं बी. ए. इन आर्कियोलोजी के छात्रों के सहयोग से सम्पन्न किया गया।

परिकल्पना

आहड़, बालाथल और ईसवाल के उत्खनन से यह प्रमाण प्राप्त होते हैं कि इस क्षेत्र में लोहे को गलाने का कार्य बहुत पहले से चल रहा था, जो लगभग 400 ईसा पूर्व से 14वीं शताब्दी ई. तक जारी था। ऐतिहासिक काल के दौरान उदयपुर का दक्षिणी-पूर्वी भाग विभिन्न राजनैतिक गतिविधियों का मुख्य केन्द्र था। मेवाड़ के प्रारम्भिक शासक गुहिल थे। इन्होंने अपनी राजधानी किष्किन्धा में स्थापित की, जो नठारा की पाल से 22 किलोमीटर दक्षिण-पश्चिम की ओर है। डॉ. जीवनसिंह खरकवाल द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों से स्पष्ट, विश्व का प्रथम जस्ता उत्पादक केन्द्र जावर भी यहाँ से 15 किलोमीटर दूर उत्तर-पूर्व में स्थित है। पारम्परिक रूप में जिस क्षेत्र में नठारा स्थित है, उसे मगरा कहते हैं। यह मगरा क्षेत्र अपने आप में सबसे अनोखा है। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि नठारा में कच्चे लोहे की मात्रा काफी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सम्भवतया तत्कालीन गुहिल शासक 22 किलोमीटर दूर आकर कच्चे लोहे का प्रयोग करते होंगे।

उद्देश्य

1. दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में ऐतिहासिक युग से मध्ययुगीन लौह कार्यों की जानकारी प्राप्त करना।

2. दक्षिण-पूर्वी राजस्थान के ऐतिहासिक काल के सांस्कृतिक कालक्रम का निर्धारण करना, क्योंकि अभी तक इस पर कोई कार्य नहीं किया गया है।

3. इस क्षेत्र की प्रौद्योगिकी को बढ़ाने के पीछे के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक कारणों का पता लगाना।

4. इस क्षेत्र में स्थापत्य के उद्देश्य व तकनीक को समझना।

उत्खनन

उपरोक्त उद्देश्यों को पूरा करने के लिए 6 खाइयाँ 5x5 मीटर की बनाई गई, जिन्हें क्रमशः TT_1, TT_2, TT_3, TT_4 TT_5 और TT_6 नाम दिया गया। प्रत्येक खाई को चार बराबर भागों में बांटा गया, जिसे NE, NW, SE, SW नाम दिया गया तथा हर खाई को उत्खनन की दृष्टि से अलग-अलग लोट नम्बर दिए

गए। खाई TT_1 में सिर्फ NE भाग को रखा गया।

भवन संरचना

उत्खनन के दौरान यह देखा गया कि यहाँ के निवासियों ने अपने घरों को बाढ़ व बाह्य आक्रमणों से बचाने के लिए एक परकोटे का निर्माण किया था।

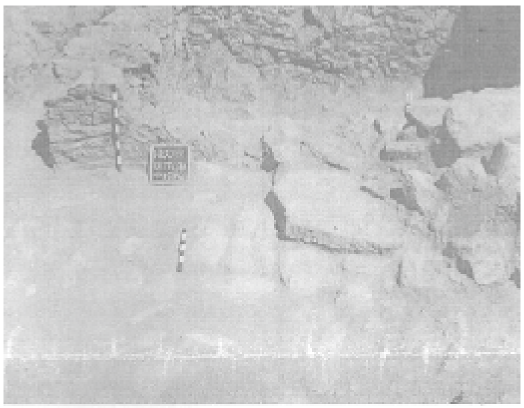

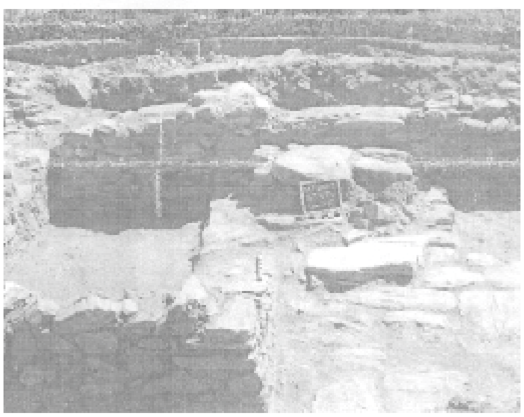

यह परकोटा बाह्य व आन्तरिक दो दीवारों से मिलकर बना था। बाह्य दीवार उत्तर-दक्षिण कोने में एक बुर्ज के रूप में ही बच पाई है। बाह्य दीवार का बुर्ज उत्तर-दक्षिण दिशा में 6.20 मीटर लम्बा व 90 सेन्टीमीटर चौड़ा है। इसकी कुल बची हुई ऊँचाई 1.60 मीटर है। इस बची हुई दीवार पर 17 पत्थरों की चुनाई स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही है। दक्षिण दिशा का बुर्ज बिल्कुल जर्जर अवस्था में पाया गया है। इसकी ऊँचाई 10.5 मीटर व चौड़ाई 1.10 मीटर है। परकोटे की बाह्य दीवार की कुल लम्बाई उत्तर से दक्षिण 25.10 मीटर है। परकोटे की आन्तरिक दीवार बाह्य दीवार से 2 मीटर की दूरी पर बनाई गई है। बाह्य और आन्तरिक दीवार के बीच की दूरी को मिट्टी, कंकरीट व लौहमल से भरा गया है।

परकोटे की आन्तरिक दीवार उत्तर से दक्षिण दिशा की ओर बनाई गई है। यह खाई संख्या TT_1 के उत्तर-पूर्वी भाग व खाई संख्या TT_3, TT_4, TT_5, के उत्तर-पश्चिम भाग तक बढ़ी हुई हो सकती है। इसकी मौजूदा लम्बाई TT_1 में 1.8 मीटर नापी गई है।

उत्खनन के दौरान यह दीवार TT_3, TT_4 व TT_5 तक 5 मीटर तक उत्खनित की गई है। इसकी मौजूदा ऊँचाई 1 मीटर तथा चौड़ाई 70 सेन्टीमीटर है तथा इस पर मौजूदा 11 पत्थरों की चुनाई स्पष्ट दिखाई देती है।

खाई संख्या TT_5 आन्तरिक परकोटे की दीवार की लम्बाई 5 मीटर तथा ऊँचाई 1 मीटर पूर्वी-पश्चिम से मिलाकर 9 मीटर है। इसकी कुल चौड़ाई 60 सेन्टीमीटर है तथा इस दीवार की लम्बाई में 8 पत्थरों की चुनाई स्पष्ट रूप से देखी गई है। उत्खनन के दौरान कुछ रिहायशी भवनों के अवशेष भी सामने आए, जो आयताकार आकृति में हैं। सम्भवतया खिड़कियां व प्रवेश द्वार भी बनाए गए थे। खाई संख्या TT_1 के दक्षिण-पूर्वी व दक्षिण-पश्चिमी भाग में एक प्रवेश द्वार पाया गया है, जिसकी लम्बाई 1 (एक) मीटर है। साथ ही खाई संख्या TT_3 के दक्षिण-पूर्वी, दक्षिण-पश्चिम तथा उत्तर-पश्चिम भाग भी उद्घाटित हुआ है। यहाँ फर्श बड़े-बड़े पत्थर की पट्टियों से बनाया गया है। बड़े-बड़े पत्थर का औसतन माप 70x65x9 सेन्टीमीटर है। खाई संख्या TT_3 के उत्तर-पूर्व भाग में एक चबूतरे जैसा भाग भी स्पष्ट हुआ है, जिसकी माप 1.40x90x45 सेन्टीमीटर है।

मृदभाण्ड

नठारा की पाल पुरातात्त्विक उत्खनित स्थल से उत्खनन के दौरान प्राप्त मृदभाण्डों को विशेष रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, जिसमें प्रथम

पूर्व कुषाण तथा द्वितीय पूर्व मध्ययुगीन। यहाँ से प्राप्त मृदभाण्डों में ज्यादातर मृदभाण्ड लाल मिट्टी के बने हुए हैं, जिन्हें बारीक मोटी मिट्टी से बनाया गया है। मोटी मिट्टी के बर्तनों की संख्या ज्यादा है। इनमें

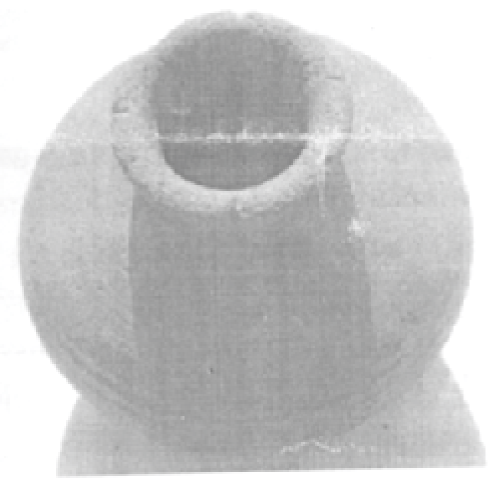

ज्यादातर संग्रह पात्र हैं। बारीक व छनी हुई मिट्टी के लाल बर्तनों में केटली व हांडियाँ ज्यादा हैं। दोनों प्रकार के बर्तनों को अच्छी तरह पकाया गया है तथा कुछ बर्तनों पर पुष्पाकृतियां बनी हुई हैं। कुछ ऐसे भी बर्तनों के टुकड़े हैं, जिन पर परत चढ़ी हुई है। यहाँ से बहुत कम मात्रा में राखिया रंग के बारीक व मोटी मिट्टी से बने बर्तन प्राप्त हुए हैं। ये बर्तन अच्छी तरह से पके हुए हैं। इन टुकड़ों के ऊपरी भाग में लहरों, धारियों व कंघी जैसी आकृतियाँ बनी हुई हैं।

अन्य पुरावशेश

यहाँ उत्खनन के दौरान मुख्य पुरावशेष के रूप में एक परफोरेटेड मोती, कांच की चूड़ियाँ, मिट्टी से बनी तश्तरी तथा एक काँसे की अंगुठी प्राप्त हुई है। यहाँ से जो चूड़ियों के अवशेष प्राप्त हुए हैं वह ज्यादातर नीले रंग के हैं। इसी के साथ यहाँ से पकी हुई मिट्टी के दीपक काफी मात्रा में मिले हैं।

खाई संख्या TT_2 की सफाई करते वक्त एक टूटा हुआ रिटोर्ड भी प्राप्त हुआ है। इसी के साथ भट्टी का आधार भाग भी प्राप्त हुआ है। खाई संख्या TT_2 से प्राप्त रिटोर्ड की लम्बाई 26 सेन्टीमीटर तथा चौड़ाई 11 सेन्टीमीटर है। इसमें दोनों छोर पर छिद्र बने हुए हैं, जिसमें एक 4.5 सेन्टीमीटर का तथा दूसरे तरफ का छोटा छिद्र 3 सेन्टीमीटर का है। यह रिटोर्ड ईसवाल उत्खनन से प्राप्त रिटोर्ड से बिलकुल भिन्न है। यह रिटोर्ड यह दर्शाता है कि यहाँ की तकनीक भिन्न थी।

यहाँ से प्राप्त मुख्य पुरावशेषों में सिक्कों का स्थान है। इन्हें इन्डो-सेसानियस सिक्के के रूप में पहचाना गया है। ये सभी सिक्के गोलाकार हैं, जिनकी औसतन परिधि 14 से 17 मिलिमीटर तथा औसतन मोटाई 2 मिलिमीटर है। इसका औसतन वजन लगभग 3.75 ग्राम है। प्रथम जाँच से ये जाहिर होता है कि इन सिक्कों में लगभग 60 प्रतिशत चाँदी है तथा 40 प्रतिशत अन्य धातुओं में ताम्बे व जस्ते का स्थान आता है। कुछ अन्य पुरावशेषों में सीप के कड़े, हड्डियों के मोती, टेराकोटा के कर्णफूल, लोहे की कीलें तथा ताम्बे की अंगुठी शामिल हैं।

संदर्भ

1. Udaipur District Gazetteer; Department of Geology Rajsthan, Udaipur, 1999. **2.** Sircar; D. C., The Guhils of Kiskindha Calcutta: Sanskrit College, 1965. **3.** Bhattacharya : A.N., Human Geography of Mewar, Himanshu Publication, Delhi, 2000. **4.** Misra; V. N., Rajsthan Prehistoric and Early Historic Foundation, Aryan Book International, New Delhi. **5.** Kharakwal; Dr. J. S., Indian Zinc Technology in a Global Perspective, Pentagon Press and Infinity Foundation Series, New Delhi, 2011.

साहित्य संस्थान
इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग
जनार्दनराय नागर राजस्थान विद्यापीठ
(डीम्ड) विश्वविद्यालय, उदयपुर, राज.
मो. - 9414169212
ई-मेल : kul_vyas004@yahoo.com

राघोगढ : इतिहास एवं दर्शनीयता

अक्षय कुमार देराश्री

आगरा-मुम्बई नेशनल हाईवे पर 3 कि.मी. दूर स्थित राघोगढ़ एक प्राचीन क्षेत्र है जो वर्तमान में मध्य प्रदेश के गुना जिले का भाग है। यहाँ पर कई वंशों ने राज्य किया। चौथी और पांचवीं शताब्दी में नागवंशी क्षत्रियों का राज्य था और उनकी राजधानी **नागनपुर** सुन्दर एवं नैसर्गिक सरोवर नागनपुर के तीर पर बसी हुई थी। नाग राजवंश शिवभक्त था। अभी नागनपुर में कई भग्नावशेष विद्यमान हैं। नागनपुर की जनसंख्या उस समय 40-50 हजार के लगभग थी और वहाँ पर कई विशाल बाजार और भिन्न-भिन्न संप्रदायों के भव्य मंदिर थे। 14वीं शताब्दी के शिलालेख राघोगढ के जैन मंदिर में सुरक्षित हैं। चित्ताकर्षक शिव लिंग और नन्दी नागनपुर के भग्नावशेषों में स्थित हैं।

नागनपुर के सरोवर के सोपान, धाउ के पत्थर के चौकों से पटे हुए हैं और चट्टान कटी हुयी सी मालूम पड़ती है। इस सरोवर में सफेद कमल हैं जो मई-जून में खिलते हैं तब वहाँ की छटा अनुपम हो जाती है। यही यहाँ का पर्यटन का महत्वपूर्ण स्थान है। इस तालाब में एक विशेष प्रकार की मछली पायी जाती है जिसमें मत्स्यगंध नहीं है। विशेषज्ञों ने इसको सांमल जाति की मानी है। नाग वंशीय राजाओं के पतन के पश्चात अहीरों ने अपना राज्य इस क्षेत्र पर जमाया और तभी से यह क्षेत्र अहीरवाड़ा के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इसके पश्चात राघोगढ़ के नरेश चौहानवंश की खींचीं शाखा के क्षत्रीय हुए। इनका राज्य राजस्थान में नागौर मारवाड़ के **जायल** में था और दसवीं शताब्दी में ये लोग **खटकड़** (बूंदी) में आये और फिर **गागरोन** में जाकर इन्होंने राज्य स्थापित किया जहां भारत प्रसिद्ध द्वीप-दुर्ग गागरोन का निर्माण कराया। गागरोन का दुर्ग अपना अलग ही महत्व रखता है क्योंकि यह एक द्वीप पर बना हुआ है तथा इसके चारों ओर कालीसिन्ध व आहू नदियां बहती हैं व इसमें जाने का रास्ता एक पुल पर से होकर है। गागरोन दुर्ग में स्वामी रामानन्द के शिष्य और संत कबीर के गुरुभाई **संत पीपा** और वीरवर **अचलसिंह खींची** जैसे भक्त और आदर्श योद्धा उत्पन्न हुए। अचलदास का प्रसिद्ध ग्रंथ **अचलदास री वचनिका** उनकी अक्षय कीर्ति है। अचलदास का विवाह चित्तौड़ (मेवाड़) के राणा मोकल की पुत्री लाली मेवाड़ी से हुआ था। इस विवाह का विवरण **लाली मेवाड़ी री वार्ता** ग्रंथ में है। अचलदास ने मालवा के सुल्तान होसंग शाह से युद्ध करते हुए वीरगति प्राप्त की। अचलदास मालवा में लोकदेवता के रूप में

पूज्य हैं। खींचियों ने गागरोन से अपने राज्य का विस्तार किया और एक समय इनके राज्य की सीमा उत्तर में चंदेरी से लेकर दक्षिण में शाजापुर तक थी और पूर्व में विदिशा से लेकर पश्चिम में गागरोन तक थी, जिसका क्षेत्रफल लगभग 18000 वर्ग मील था।

गागरोन की प्रमुखशाखा ने **गूगोर** क्षेत्र में आकर अपना राज्य स्थापित किया और पार्वती नदी के तट पर प्रसिद्ध गूगोर दुर्ग बनवाया। भमावद एवं बालाभेंट, गूगोर के अन्तर्गत मण्डल थे। **राजा लालसिंहजी** बालाभेंट के क्षेत्र में पर्वतों में आखेट खेलने आये तब रात्रि में भगवान राम ने उन्हें स्वप्न दिया कि अमुक स्थान में मेरी मूर्ति गड़ी हुई है। उसे निकाल कर राजा लालसिंहजी ने मंदिर बनवाया और दुर्ग स्थापित किया। भगवान के उक्त आदेश के अनुसार राजा लालसिंहजी ने संवत् 1734 माघ शुक्ल पंचमी को मंदिर व दुर्ग का शिलान्यास किया और तभी से इस दुर्ग का नाम राम अर्थात राघव के नाम पर **राघोगढ़** प्रसिद्ध हुआ। राजा लालसिंहजी के उत्ताराधिकारी राजा धीरतसिंहजी ने दुर्ग के आस-पास धीरपुर बसाया जो बड़ी समृद्धशाली नगरी थी। मरहठों के आक्रमणों से यह नगरी उजड़ गई और फिर किले के पश्चिम में छोटा सा गांव कोटड़ा था जो राघोगढ़ के नाम से विख्यात हो गया। राघोगढ़ की एक रानी **सुन्दर कुँवरबाई** प्रसिद्ध संत कवयित्रि हुई। मालवा के मध्यकालीन इतिहास में राघोगढ़-नरेशों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। इनमें से वीरवर जयसिंह ने मरहठों के विरुद्ध, शेर की तरह युद्ध किया। उनसे संबंधित दो प्रबन्ध काव्य - **जयसिंह विरुदावली** और **शेर प्रकाश** उपलब्ध हैं। इन्हें स्व. रविशंकर जी देराश्री ने सम्पादित किया है।

कभी विभिन्न वनस्पतियों एवं पशुओं से समृद्ध घने जंगल से घिरा राघोगढ़ का दुर्ग मालवा के प्रसिद्ध दुर्गों में से है। इसका निर्माण वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार किया गया था। इसके महल के सात खण्ड ऊपर और दो खण्ड भूमि के अन्दर हैं। इस प्रकार नौ खण्ड हैं। दुर्ग के तीन परकोटे थे, लेकिन यवनों और मरहठों के लगातार आक्रमणों से नष्ट हो गये। राघोगढ़ किले में स्थित प्रसिद्ध हनुमान महल की शिल्पकला विजयनगरम् राजप्रासाद की शैली की है, शेष भवनों की शिल्पकला नरवर एवं जयपुर शैली की है। दुर्ग में श्री राघोजी एवं श्री जगदीशजी के भव्य मंदिर हैं। जगदीशजी के मंदिर में अभी तक जगन्नाथपुरी के समान अटका चढ़ाया जाता है। दुर्ग के उत्तर में आधे फलांग पर चतुर्भुजजी का मंदिर है। यह मंदिर बहुत ही सुन्दर है तथा इसमें जाली का बारीक काम किया हुआ है। मंदिर की दीवारों पर रामायण और महाभारत की घटनाओं के भित्तिचित्र हैं। दुर्ग के पश्चिम में तीन टेकरियों पर निम्बार्क सम्प्रदाय के तीन मंदिर हैं। पहली टेकरी पर श्री गोपालजी का छोटे दुर्ग के तुल्य मंदिर है। श्री गोपालजी की अतिसुन्दर साक्षात दर्शनीय मूर्ति है।

राघोगढ़ के दुर्ग के उत्तर पूर्व में धीरपूर का मैदान है जहाँ पर अनेक घमासान युद्ध हुए। उसके समीप ही यहाँ के राजाओं का शमशान है। यहाँ **राजा धीरतसिंहजी** की स्मृति में एक बहुत ही कलात्मक चबूतरा बना हुआ है। धीरतसिंहजी के संबंध में एक कथा प्रसिद्ध है। उन्हें सर्पों के बारे में पूरा ज्ञान था। राजा धीरतसिंह जी एक समय आखेट को गये व मार्ग में उन्होंने देखा कि एक उच्च जाति की सर्पिणी नीच जाति के सर्प से संभोग कर रही थी। राजा धीरतसिंह जी ने सर्पिणी को झिड़का और बेंत से पीटा। जब सर्पिणी का पति जंगल से लौटा तो उसने अपने पति से राजा धीरतसिंह जी के व्यवहार की शिकायत की। सर्पराज ने राजा धीरतसिंह को डंसने का संकल्प कर राजप्रासाद की ओर प्रस्थान किया। राजा धीरतसिंह जी भी तब तक आखेट से लौट आये थे और अपनी रानियों के साथ विश्राम एवं वार्तालाप कर रहे थे और स्वयं के द्वारा देखी गई घटना का वर्णन कर रहे थे। सर्पराज घात लगाकर वहाँ छिपे हुये थे। उन्होंने इस वर्णन को सुना, प्रकट हुए और राजा से कहा कि

हे राजा मैं आप से बड़ा प्रसन्न हूँ, आपने जो कुछ किया वह न्यायोचित ही था। सर्प ने राजा से कोई वरदान मांगने को कहा। इस पर राजा ने कहा कि आपकी कृपा ही मेरे लिए वरदान है। फिर भी नागराज ने यह वरदान दिया कि किसी व्यक्ति को सांप के डंसने पर यदि वह तुम्हारे नाम की उतरी (धागा) गले में बांध लेगा तो उस पर विष का प्रभाव नहीं होगा और तुम्हारी जीवित अवस्था में राजगद्दी के सम्मुख तथा तुम्हारी मृत्यु के उपरान्त तुम्हारी समाधि पर आकर उतरी उतरवाने से वह सर्प जिसको काटा है उसका पीछा छोड़ देगा और विष से मुक्त हो जायेगा। इस प्रयोग को सर्पराज ने प्रत्यक्ष दिखलाया जिसका उसी समय का चित्र राघोगढ़ के अनुपम चित्र संग्रह में था। अभी भी सैकड़ों सर्पदंश से पीड़ित स्त्री-पुरूष यहाँ आते हैं और सर्पदंश के विष से मुक्त होकर प्रसन्न हो कर लौटते हैं।

नागवंशीय राजाओं की बनाई हुई कई गुफाएं एवं शिव मंदिर हैं। राघोगढ़ से पूर्व में 9 मील दूरी पर गैलोन नाम का ग्राम है, वहाँ गेलानाथ का **गुफा-मंदिर** है। इसी प्रकार दक्षिण-पूर्व में बैसायला और झाझोन के मध्य **वैद्यनाथ** महादेव का मंदिर है। उत्तर-पूर्व में कुंदा और लोहपाल के बीच में **पचमढ़ी** में पत्थर में खुदी हुई तिबारियां है। दक्षिण-पूर्व में भी 12 मील पर श्योपुर ग्राम के पास चट्टानों में खुदी हुई गुफाएं हैं। राघोगढ़ से दक्षिण में 8 मील पर **गऊमुख** ग्राम है। उसके समीप सिद्धों की झिरियां हैं। यहां केवल दो फीट गहरा अटूट कुण्ड है जिसमें गर्मी में ठंडा पानी और सर्दी में गर्म पानी मिलता है। झिरियों के पूर्व में गऊमुख नाम का सरोवर है जिसके बीच नागवंशी राजाओं के काल का एक स्तंभ था। उसकी ऐसी प्रसिद्धि थी कि वह बहुत गहरा गडा हुआ था और कई हाथियों द्वारा खिंचे जाने पर भी नहीं निकला परन्तु वर्तमान में वह स्तम्भ नहीं है।

राघोगढ़ से दक्षिण-पश्चिम में उजड़े हुए ग्राम **रकपुरा** के समीप **राजा रायसिंह** की स्मृति में एक कलापूर्ण चबूतरा बना हुआ है। इस चबूतरे में लगे हुए पत्थरों में सुन्दर, भिन्न-भिन्न पशु-पक्षियों के चित्र खुदे हुए हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि रायसिंह का सिर घाटाखेड़ी, घाट पारवती पर पड़ा जहाँ चबूतरा है, भुजाएं बरसद ग्राम में गिरी जहाँ पर भी चबूतरा है और रकपुर में भी चबूतरा है। खींचियों के बनाए हुए कई स्थान हैं। राघोगढ़ से 6 मील उत्तर में चोपेट नदी पर एक बांध बंधा हुआ है जिसमें माघ महीने तक जल का झरना बहता है और नीचे बहुत गहरा पानी का दह (तालाब) है। इस दह पर सुन्दर महल बने हुये थे जो खण्डहर अवस्था में हैं। यह स्थान बड़ा रमणीय है और यहां लोग गोष्ठि के लिये जाया करते हैं। इस स्थान को **धीरदह** कहते हैं। राघोगढ़ के दक्षिण में 24 मील की दूरी पर ढांढोन्या ग्राम है, जहाँ पर राघोगढ़ खींची नरेशों के बड़वे रहते हैं। इन बड़वों के पास क्षत्रियों के 36 वंशों के प्रमाणित वंश-वृक्ष एवं इतिहास है। इतिहासज्ञ सर जॉन मेलकोलम एवं कर्नल टॉड ने इनका उपयोग किया व अपनी मुद्रिका से प्रमाणित किया।

राघोगढ़ के पूर्वी भाग में किशनगढ़ श्योपुर के मध्य घना जंगल था। राघोगढ़ के पश्चिमोत्तर में 10 मील की दूरी पर विजयपुर ग्राम है जहाँ पर सन् 1857 ई. के विप्लव में घमासान युद्ध हुआ। यहां एक अंग्रेज योद्धा की स्मृति में एक चबूतरा बना हुआ है। विजयपुर अब काफी विकसित हो गया है। यहाँ से उत्तर प्रदेश में जगदीशपुर तक रेल जाती है।

राघोगढ़ के उत्तर-पूर्व में आरोन क्षेत्र है। **आरोन** ग्राम में खींचियों की बनाई हुई गढ़ी है और यहाँ प्रतिवर्ष मेला भरता है। 50 वर्ष पूर्व यह मेला बहुत ठाठ से भरता था। मूडरा ग्राम में देवी का एक चमत्कारी मंदिर है। सावे गांव में भी देवी का विशाल मंदिर है। टंक गांव में एक पहाड़ी पर दुर्जनशाल खींची की अश्वारूढ मूर्ति है। मंकसूदगढ़ क्षेत्र **खैराड़** नाम से प्रसिद्ध है और इसके समीप एक गढ़ी बनी हुई है।

जामनेर क्षेत्र में बरसत नामक अच्छा ग्राम है जहाँ पर 1857 ई. के गदर में युद्ध हुए जिसमें राजा रायसिंह की भुजा गिरी वहाँ चबूतरा बना हुआ है और जहाँ शरीर गिरा वहाँ रंगपुर में चबूतरा बना हुआ है, जिसका ऊपर वर्णन है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि राघोगढ़ का गौरवपूर्ण इतिहास रहा है। यह अहीरवाड़ा तथा खींचीवाड़ा क्षेत्र का मुख्य नगर तथा राजधानी था। राघोगढ़ केवल ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही महत्वपूर्ण नहीं था अपितु यह घने जंगलों से घिरा हुआ एक बहुत ही सुरम्य स्थल था। यहाँ के जंगलों में तरह-तरह के जानवर जिनमें शेर वगैरह भी थे, विचरण करते थे। इसका सामरिक महत्व था।

महादजी सिन्धिया व दौलतराव सिन्धिया ने यहाँ कई बार घेरा डाला। सिन्धियाओं के पूर्तगाली सेनापति बेपरिस्ट ने राघोगढ़ के घेरे में सिन्धिया की सेना का नेतृत्व किया था। राघोगढ़ के राजा जयसिंह ने मराठों के विरुद्ध युद्ध में अतुल पराक्रम का प्रदर्शन किया था। जयसिंह अपनी वीरता व नेतृत्व के गुणों के कारण खींचीवाड़ा में एक लोकप्रिय लोकनायक हो गये थे। उनकी वीरता, बांकेपन व रोमानी प्रकृति के कारण ही जनता ने उन्हें अपना एक प्रिय लोकनायक माना था। राघोगढ के इतिहास के बारे में मैलकालम ने अपने मालवा के संस्मरण में विस्तार से लिखा है।

रवि कोट, पो.- बनेड़ा
जि.- भीलवाड़ा (राज.)-311401
फोन- 01487-242637

प्रतिस्वर

कल शाम को वैचारिकी मार्च-अप्रैल 2022 का अंक मिला।

वैचारिकी मेरी ज्ञान-पिपासा को शांति देने वाला एक वैचारिक वेगवान नद बनती जा रही है, जिसमें नये अंक के मिलते ही एक डुबकी तो लगानी पड़ती ही है। कल भी यही हुआ। नित्य जीवन के श्रम की थकान के बाद भी आधी रात तक इसके पृष्ठों का अध्ययन करता रहा।

इसमें धर्म, पंथ और विज्ञान के विभिन्न अंगों - आत्मा, चेतना, कण भौतिकी, देवतावाद, संस्कृति, बौद्धिक और जातीय विकास के इतिहास आदि विषयों पर अनेक लेखों के माध्यम से गागर में सागर भरने का मुश्किल कार्य सहज किया गया है। गंभीर विषयों का अध्ययन और लेखन सरल नहीं होता, बहुत से मत-मतांतरों पर तौलना पड़ता है। निश्चय ही सारे निचोड़ का संपादन एक दुर्धर्ष कार्य है। वैचारिकी का हर अंक एक विशेषांक होता है। एक पाठक ने ठीक ही लिखा है कि यह पत्रिका नहीं है, यह ज्ञान-संकलन की संग्रहणीय पुस्तक है।

भारतीय संस्कृति को प्रकाशित-विकसित और सतत प्रवाहित रखने में अग्रसर हो रही इस ज्ञान-गंगा वैचारिकी को निर्झरणी बनाये रखने वाले सभी सुयोग्य साथियों को मेरा सादर वंदन। 'महाजनो येन गतः स पंथा' उक्ति चरितार्थ होती रहे - मंगल कामना।

राममोहन लखोटिया
लेकगार्डेन्स, कोलकाता
मो. 09830033478

सरस्वती नदी घाटी के उत्खननकर्ता पुरातत्त्ववेत्ता

कमल सिंह

पुरातात्त्विक उत्खन्न एवं सर्वेक्षण कार्य 150 वर्षों से राजस्थान में किये जा रहे हैं जिनके फलस्वरूप विभिन्न महत्वपूर्ण जानकारियाँ प्रकाश में आयी। राजस्थान में ऐसी गतिविधियां स्वतन्त्रता पूर्व एवं इसके पश्चात् भी जारी रही हैं। ब्रिटिश काल में अनेक पुरातत्ववेत्ताओं ने भारतीय संस्कृति और धरोहर के संरक्षण हेतु कार्य किया। अलग-अलग रियासतों में ब्रिटिश अधिकारियों व स्थानीय विशेषज्ञों की सहायता से प्राचीन धरोहर को जानने एवं सुरक्षित रखने हेतु कार्य किये गए। इस निमित्त वृहद रूप से सर्वेक्षण का कार्य किया गया।

राजस्थान के पुरातत्त्व को भारत एवं विश्व के पटल पर लाने में अनेक पुरातत्त्ववेत्ताओं का योगदान है जिनमें सर अलेक्जेन्डर कनिंघम ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थापित भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के प्रथम निदेशक थे। इसी क्रम में कारलाईल, हैकेट, डीआर भण्डारकर, टैसीटोरी, आरेल स्टीन, अमलानंद घोष, के.टी.एफ. दलाल, वी.एन. मिश्रा, एस. एन. राजगुरू, आर.सी. अग्रवाल आदि अनेक पुरातत्त्ववेत्ताओं ने राजस्थान के पुरातत्व के साक्ष्यों को प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया। राजस्थान के उत्तर एवं पश्चिमोत्तर क्षेत्र के सर्वेक्षकों में जिन पुरातत्त्ववेत्ताओं का नाम अग्रिम पंक्ति में लिया जाता है उनमें एल.पी. टैसीटोरी, आरेल स्टीन और अमलानंद घोष प्रमुख हैं। इन पुरातत्त्ववेत्ताओं ने राजस्थान के इस क्षेत्र का गहन सर्वेक्षण करके हड़प्पा और अन्य संस्कृतियों को चिह्नित किया तथा भारतीय पुरातत्व में इस क्षेत्र के महत्व को रेखांकित किया।

उत्तर एवं पश्चिमोत्तर राजस्थान के पुरातत्व की चर्चा करने पर सर्वप्रथम डॉ. एल.पी. टैसीटोरी (तैस्सितोरी) का नाम लिया जाता है। टैसीटोरी का जन्म इटली के उत्तर-पूर्व में स्थित उदीना नामक एक नगर में 13 दिसम्बर 1887 को गिडो तैस्सितोरी (जो फाउण्डलिंग अस्पताल में एक कर्मचारी थे) और लुई रोजा वर्नियर रोमानो के घर में हुआ।

भारतीय भाषाओं संस्कृत, पाली और प्राकृत के प्रति विशेष रुचि होने के कारण उनके मित्र उन्हें 'भारतीय लुई' कह कर संबोधित करते थे। यद्यपि टैसीटोरी ने पुरातत्व में प्रशिक्षण प्राप्त नहीं किया था तथापि इन्होंने अपने ज्ञान, तीक्ष्ण अध्ययन दृष्टि और अनुभव के माध्यम से अनेक महत्त्वपूर्ण पुरास्थलों की खोज और उत्खनन किया जो उनका अतुलनीय योगदान

है। इटली के फ्लोरेंस विश्वविद्यालय से 1911 में तुलसी कृत रामचरितमानस और बाल्मीकि रामायण का तुलनात्मक अध्ययन पर शोध कार्य करने के पश्चात वे भारत आए और अंततः बीकानेर (राजस्थान) आकर रहने लगे थे। 32 वर्ष की अल्पायु में निमोनिया से ग्रस्त होने पर बीकानेर में ही उनका देहावसान हो गया था। डॉ. टैसीटोरी ने तत्कालीन बीकानेर राज्य का सर्वेक्षण करके पुरातात्विक महत्व की सामग्री को संग्रहीत करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। दिसम्बर 1915 में बीकानेर के महाराजा गंगा सिंह ने डॉ. टैसीटोरी को बीकानेर राज्य का सर्वे करने का कार्य सौंपा। डॉ. टैसीटोरी ने सरस्वती नदी के बाढ़ क्षेत्र का बृहद सर्वे करके रंगमहल, बडोपल, मुण्डा आदि स्थलों को खोजा और वहां से पुरासामग्री का संग्रह किया।[1] डॉ. टैसीटोरी द्वारा एकत्र की गई पुरासामग्री वर्तमान में गंगा गोल्डन जुबली संग्रहालय, बीकानेर में संरक्षित है जो कलात्मक और धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। रंगमहल[2] पुरास्थल की खोज में टैसीटोरी का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण योगदान है। इस स्थान से शैव, वैष्णव और बौद्ध तीनों संप्रदायों की धार्मिक त्रिवेणी से संबद्ध पुरासामग्री प्राप्त हुई है, जो इसकी विशिष्टता को रेखांकित करती है। डॉ. टैसीटोरी एक साहित्यविद, पुरातत्वविद्, इतिहासकार और भाषाविद् थे। जिनके पुण्य प्रयासों से बीकानेर संभाग की धरा को भारतीय पुरातत्त्व में योगदान का गौरव मिला।

इसी शृंखला में एक अन्य पुराविद् का नाम अत्यंत श्रद्धा से लिया जाता है, जो है सर मार्क आरेल स्टीन। इनका जन्म 16 नवम्बर, 1862 में बूडापेस्ट हंगरी में हुआ था। भारत में एक ब्रिटिश पुराविद् के रूप में इन्होंने कार्य किया। वे ग्रीक, लेटिन, फ्रेंच, अंग्रेजी, संस्कृत और फारसी में पारंगत थे। इन्होंने भारत में अनेक विश्वविद्यालयों में प्रोफेसर के रूप में कार्य किया। 26 अक्टूबर 1943 को काबुल अफगानिस्तान में उन्होंने अंतिम श्वास ली। भारतीय इतिहास में स्टीन राजतरंगिणी के अनुवादक के रूप में जाने जाते हैं। पुरातत्त्ववेत्ता के रूप में इनकी पहचान विश्व में प्रसिद्ध रेशम मार्ग में पुरातात्विक स्थलों की खोज से हुई। स्टीन द्वारा राजस्थान में लुप्त सरस्वती के क्षेत्र में प्राचीन स्थलों का सर्वेक्षण शीर्ष स्थान रखता है।[3-4] यह उनके अंतिम अभियानों में से एक अभियान था जो 1940 से 1943 के बीच किया गया जब वे 80 वर्ष के थे। सरस्वती शब्द के दो संदर्भ होते हैं, एक नदी और दूसरा विद्या की देवी। व्युत्पत्ति विज्ञान के अनुसार इसका अर्थ 'क्षेत्र जहां बड़ी संख्या में झील और ताल विद्यमान हो' या सभी देवियों और नदियों से है। यह अर्थ सभी मुख्य प्राचीन भारतीय ग्रंथों में दिया गया है। इस नदी का वर्णन भारतीय जनमानस के धार्मिक विवरण का हिस्सा है। दक्षिण एशिया में भौगलिक रूप में इसके अस्तित्व का प्रमाण नहीं मिलता है इसलिए इसे एक कल्पित नदी भी माना जाता है। प्राचीन ग्रंथों और समकालीन भौगोलिक लक्षणों की विसंगतियों ने शोधार्थियों को, आरेल स्टीन से पहले भी लुप्त नदी सरस्वती को चिह्नित करने हेतु प्रेरित किया परन्तु स्टीन पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस प्रश्न को अंतःविषय पद्धति जिसमें भाषाशास्त्र, भूगोल और पुरातत्व शामिल थे, के माध्यम से समाधान ढूंढने का प्रयत्न किया।

स्टीन के शोध का मौलिक आधार ऋग्वेद में वर्णित प्रसिद्ध नदी सूक्त है। नदी सूक्त के पांचवें छंद में नदियों के नाम दिए गए हैं। जिसका विश्लेषण करके और भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा बनाए गए मानचित्रों की जांच करके स्टीन ने इस सूक्त में वर्णित नदियों व उनके आधुनिक नामों की एक सारणी बनाई। उनके अनुसार सूक्त में वर्णित नदियों का क्रम पूरब से पश्चिम की ओर है।

ऋग्वेद में सरस्वती नदी का विवरण एक विशाल नदी के रूप में दिया गया है परंतु उसके आधुनिक स्वरूप में वह सरसूति या हाकड़ा (हकरा) के नाम से

जानी जाती है, जो केवल एक मौसमी धारा है। इस अंतरविरोध के समाधान हेतु स्टीन ने वास्तविक भौगोलिक क्षेत्र का सर्वेक्षण किया। 1940-41 की सर्दी के महीने में उन्होंने इस नदी के 400 किलोमीटर सूखे तल का अन्वेषण किया जो बीकानेर और बहावलपुर के मध्य था। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के सर्वेक्षक मोहम्मद अयूब खान ने इस क्षेत्र को समझने में उनकी मदद की जिसके आधार पर स्टीन ने पूरे क्षेत्र का रेखाचित्र प्रकाशित किया।

नदी तल की सतह के आधार पर स्टीन इस नतीजे पर पहुंचे कि प्राचीन काल में यह नदी बहुत ही महत्वपूर्ण रही होगी और इस कारण इसे ऋग्वेद में वर्णित, जल से ओतप्रोत सरस्वती नदी माना जा सकता है। अपने सर्वेक्षण के दौरान स्टीन ने अनुभव किया कि नदी का बहाव बहुत बड़े क्षेत्र में फैला हुआ था। उन्होंने पुरातात्विक अन्वेषणों के आधार पर नदी में आए परिवर्तनों के ठीक समय को जानने का एक गंभीर प्रयास किया। स्टीन ने कुछ स्थलों से मिट्टी के बर्तनों और दूसरे प्रकार के कुछ अवशेषों को एकत्र किया और कुछ स्थानों पर उत्खनन कार्य किया। संग्रहीत मिट्टी के बर्तनों के टुकड़ों की शैलीगत विशेषताओं का अध्ययन करके स्टीन ने बाद में नदी में पानी की अनुपलब्धता का कालानुक्रमिक ढांचा तैयार किया। उनके अनुसार हकरा नदी का निचला हिस्सा, सतलज नदी के बहाव क्षेत्र में परिवर्तन के कारण सूख गया जिससे आवासीय बस्तियाँ उजड़ गई। स्टीन के सर्वेक्षण करने के पश्चात भारत का विभाजन हो गया। इस प्रकार वे अंतिम शोधकर्ता थे जिन्होंने इस क्षेत्र में अविभाजित भारत के दौरान काम किया। 1947 के विभाजन के पश्चात इस क्षेत्र में शोध की दशा और दिशा पूरी तरह से परिवर्तित हो गई क्योंकि कुछ हिस्सा पाकिस्तान में चला गया और कुछ भारत में रह गया। इसी कारण स्टीन द्वारा किए गए सर्वेक्षण और उसके परिणाम दक्षिण एशियाई पुरातत्व के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

राजस्थान के उत्तर एवं पश्चिमोत्तर क्षेत्र को जिस भारतीय पुरातत्ववेत्ता का अपार सानिध्य मिला वे थे अमलानंद घोष। इनका जन्म 03 मार्च, 1910 को वाराणसी (उत्तरप्रदेश) में हुआ। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण में निदेशक के पद को सुशोभित करने के साथ उन्होंने पंचमड़ी, बीकानेर, ब्रह्मगिरी, मास्की, तक्षशिला, अरिकामेडू और हड़प्पा जैसे महत्वपूर्ण पुरास्थलों का उत्खन्न किया। उनके विशिष्ट योगदान के लिए उन्हें 1962 में पद्मश्री से सम्मानित किया गया। 1981 में उनका देहावसान हो गया। स्वतंत्र भारत में 1951-52 में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के निदेशक के रूप में रहे अमलानंद घोष द्वारा राजस्थान का प्रथम वृहद सर्वेक्षण किया गया।[5] टैसीटोरी और स्टीन के कार्यों को आधार बनाकर घोष ने दृष्द्वती नदी घाटी के निचले भाग और तत्पश्चात दृष्द्वती और सरस्वती नदियों के संगम के पश्चात पाकिस्तान की सीमा तक प्रवाहित होने वाली घग्घर नदी घाटी का सर्वेक्षण किया। उनके द्वारा 100 पुरास्थल खोजे गये। इनमें से लगभग चौथाई पुरास्थल हड़प्पा कालीन थे। कालीबंगा नामक प्रमुख हड़प्पा स्थल इनमें से एक था जो सूरतगढ़ और हनुमानगढ़ के मध्य अवस्थित है जो उस समय हड़प्पा सभ्यता का सबसे पूर्वी ज्ञात पुरास्थल था। इस संदर्भ में घोष ने भविष्यवाणी की थी कि 'इसमें कोई संशय नहीं कि इसके अवशेषों को सुदूर पूर्व में और खोजा जाना है।' परवर्ती शोध कार्यों और सर्वेक्षणों ने इस कथन को सिद्ध किया। सरस्वती नदी घाटी में अवस्थित हड़प्पाई पुरास्थलों से जिस प्रकार के मृदभाण्ड और अन्य पुरावस्तुएं मिलीं, वे पश्चिम में बहावलपुर, सिंध और बलूचिस्तान से भी मिलीं। घोष ने दृष्द्वती नदी घाटी में कुछ हड़प्पाई पुरास्थलों में मृदभाण्डों के प्रकारों का अध्ययन करके यह पाया कि वे सम्भवतः वास्तविक हड़प्पा काल के परवर्ती काल से संबंधित थे।

घोष द्वारा इस क्षेत्र में एक अन्य संस्कृति के पुरास्थलों को देखा गया जहाँ धूसर मृदभाण्ड[6] थे जिन

पर काले रंग से चित्रण किया गया था तथा कहीं-कहीं नहीं भी था। करीब ऐसे बीस पुरास्थल सरस्वती और दृष्द्वती नदी घाटियों में घोष द्वारा खोजे गये। इन पुरास्थलों में लाल मृदभाण्ड भी भरपूर मात्रा में देखे गये। उन्होंने पाया कि धूसर मृदभाण्डों के साथ प्राप्त ये लाल मृदभाण्ड हस्तिनापुर से प्राप्त सामग्री से साम्यता रखते हैं। घोष ने यह स्वीकार किया कि धूसर मृदभांडों के पुरास्थल हड़प्पा सभ्यता में विस्तार की दृष्टि से छोटे थे। उनके अनुसार इस संस्कृति को 600 ईसा पूर्व के लगभग की माना जा सकता है। उल्लेखनीय है कि इस संस्कृति के लोगों ने नवीन स्थलों पर अपने गाँव बसाये तथा किसी पुराने टीले पर बसावट से परहेज रखा। हस्तिनापुर से प्राप्त धूसर मृदभाण्ड के अनुसरण में इस संस्कृति को धूसर मृदभाण्ड के रूप में भारतीय पुरातत्व में जाना गया।

भारतीय पुरातत्त्व का इतिहास लगभग 150 वर्ष पुराना है। पुरावस्तुओं के संग्रहण से आरम्भ होकर सर्वेक्षण और उत्खन्न की यात्रा कर यह विकसित हुआ। राजस्थान की धरा इस दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध रही। देश के विभाजन के पश्चात कालीबंगा जैसे पुरास्थलों ने भारतीय पुरातत्त्व को पुनः आधार प्रदान किया। पुरातत्त्व विज्ञान के शिल्पियों के रूप में पुरातत्ववेताओं के योगदान को कम नहीं आंका जा सकता है जिन्होंने कठोर एवं अथक परिश्रम से इस विषय में अध्ययन हेतु मौलिक सामग्री एकत्र की। राजस्थान के उत्तर एवं पश्चिमोत्तर क्षेत्र में पुरातत्व को पहचान दिलाने में अनेक विद्वानों का योगदान रहा है जिनमें से टैसीटोरी, स्टीन और घोष जैसे पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा किये गये कार्य के लिए यहाँ का इतिहास सदैव उनका ऋणी रहेगा।

संदर्भ

1. श्रीवास्तव विजय शंकर (संपादक व लेखक), स्टोरी ऑफ आर्कियोलॉजिकल, हिस्टोरिकल एण्ड एंटीक्वेरियन रिसर्चिज इन राजस्थान बिफोर इनडिपेन्डेन्स, कल्चरल कंटूर्रा ऑफ इंडिया : डॉ सत्यप्रकाश फैलिसिटेशन वाल्यूम, अभिनय पब्लिकेशन्स, 1981, पृ. 32। **2.** रीड हन्ना रंगमहल दि स्वीडिश आर्कियोलॉजिकल एक्सपीडिशन टू इंडिया 1952-54. सी. डब्ल्यू के ग्लीर अप पब्लिशर्स, लुण्ड स्वीडन् 1959। **3.** श्रीवास्तव विजय शंकर (संपादक व लेखक), वही पृ. 33। **4.** स्टीन, ए सर्वे ऑफ एन्शियन्ट साईट्स एलोंग दि कोस्ट ऑफ सरस्वती रिवर, ज्योग्राफिकल जर्नल, लन्दन, वाल्यूम 95, पृ. 173-182। **5.** मिश्रा वी. एन., ए ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ आर्कियोलॉजिकल रिसर्च, राजस्थान - प्रिहिस्टोरिक एण्ड अर्ली हिस्टोरिक फाउण्डेशन्स, आर्यन बुक्स इंटरनेशनल, नई दिल्ली 2007, पृ. 61। **6.** वही।

शोधार्थी, इतिहास विभाग,
महाराजा गंगासिंह विश्वविद्यालय,
बीकानेर, राजस्थान,
मो. - 9667307001

एकान्त में भगवाधारी धूनी रमाए बैठे थे। उनके सत्व की परीक्षा लेने एक व्यक्ति आया और बोला, 'बाबाजी ! धूनी में कुछ आग है ?' बाबा बोले, 'इसमें आग नहीं है।' व्यक्ति ने उन्हें उत्तेजित करने के लिए कहा, 'कुरेद कर देखिए शायद कुछ अग्नि हो।' बाबाजी ने भौहें तरेरते हुए कहा, 'मैं तुम्हें बतला चुका हूं कि इसमें अग्नि नहीं है।' बाबाजी की प्रामाणिकता जांचने की उत्कंठा से व्यक्ति ने कहा, 'महाराज ! कुछ तो चिनगारियां हैं।' संत वेशधारी बोले, 'अपना रास्ता ले। धूनी में न तो अग्नि है और न चिंगारी।' लेकिन मुझे तो लपट उड़ती हुई दिखाई देती है, व्यक्ति बोला। वे क्रोध से व्यक्ति को मारने दौड़े। व्यक्ति और तेज दौड़ता हुआ बोला कि महाराज ! अब तो पूरी तरह अग्नि भड़क चुकी है। इशारा संत के क्रोध की तरफ था।

संत को बोध आने पर पश्चाताप हुआ और उन्होंने विचार किया कि मात्र वेश बदलने से नहीं, स्वभाव परिवर्तन से व्यक्ति संत बनता है।

महिषासुरमर्दिनी दुर्गा का शास्त्रोक्त स्वरूप

डॉ. दिनेश कुमार

ब्राह्मण धर्म में देवी--देवताओं द्वारा दैत्यों के वध के निमित्त धारण किये गये विभिन्न रूप एवं अवतारों की प्रचलित गाथाओं में दुर्गा के महिषासुरमर्दिनी स्वरूप का विशेष महत्व है। दुर्गा के इस रूप की प्रमुख विशेषता देवी के साथ ही उनके द्वारा वध किये गये दैत्य महिषासुर की मूर्ति की पूजा की स्वीकृति है। दुर्गासप्तशती के 'वैकृतिक रहस्य' अध्याय में इस तथ्य को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि (महिषासुरमर्दिनी की) पूजा में देवी (प्रतिमा) के सामने बायें भाग में कटे हुए मस्तक वाले महादैत्य महिषासुर का (भी) पूजन करना चाहिए, जिसने देवी भगवती के साथ सायुज्य प्राप्त कर लिया है अथवा देवी में लीन होकर समरूपता ग्रहण कर ली है।[1]इस प्रकार महिषासुरमर्दिनी प्रतिमाओं में महिषासुर के स्वरूप को विशेष महत्व दिया गया है। वस्तुतः इसी के आधार पर ही प्रतिमा की पूज्यता की शास्त्रोक्त स्वीकृति निश्चित की जा सकती है।

दुर्गा के महिषासुरमर्दिनी स्वरूप के शिल्पांकन में छिन्न--मस्तक महिषासुर के चित्रण के स्थान पर उसे पूर्णतः जीवित अवस्था में महिष अथवा पुरूष रूप में देवी के साथ युद्ध करते हुए प्रदर्शित किये जाने के अनेकशः उदाहरण उपलब्ध हैं। इस प्रकार के चित्रण से यह आशय स्पष्ट होता है कि अभी तक देवी द्वारा असुर का वध सम्पन्न नही हो सका है। दुर्गा द्वारा महिषासुर के मर्दन के पश्चात् ही उन्हें महिषासुरमर्दिनी,[2] महिषासुरनाशिनी,[3] महिषासुरसृकप्रिया,[4] चण्डी[5] तथा कात्यायनी[6] आदि नामों से अभिभूत किया गया। इसलिए तकनीकी दृष्टि से दुर्गा के साथ असुर की पूर्णतः जीवित अवस्था के चित्रण से युक्त प्रतिमाओं को महिषासुरमर्दिनी की श्रेणी में रखना भी उचित नहीं होगा। वध होने के पूर्व तक दैत्य और उसकी दानवी अस्मिता अक्षुण्ण रही। अतः इस प्रकार की प्रतिमाओं में उत्कीर्ण देवी की पूजा अर्चना करने में न चाहते हुए दैत्य एवं उसकी आसुरी प्रवृत्ति की पूजा भी स्वतः हो जायेगी, जो धर्मसम्मत कदापि नहीं होगी। अतः छिन्न-मस्तक असुर के चित्रण से युक्त प्रतिमाओं को ही धार्मिक क्रियाओं के लिए उपयुक्त मानना उचित होगा, क्योंकि इस स्थिति में ही दैत्य का देवी के साथ सायुज्य सम्भव हो सका। यही कारण है कि लगभग समस्त पौराणिक एवं शिल्प-शास्त्रीय विवरणों में महिषासुरमर्दिनी विषयक प्रसंग के अन्तर्गत देवी की भुजाओं की संख्या एवं हस्तायुधों में भिन्नता का उल्लेख होने पर भी प्रतिमा के वामाधः

भाग में छिन्न--मस्तक महिष के चित्रण का विधान निश्चित रूप से स्वीकार किया जाता रहा है।[7]

महिषासुर मर्दिनी प्रतिमाओं की पूज्यता की शास्त्रोक्त स्वीकृति पर अन्य तथ्य भी प्रस्तुत किये जा चुके हैं। राजस्थान में उदयपुर के निकट जगत स्थित अम्बिका मंदिर पर प्रकाशित अपने आलेख में के.वी. सौन्दरराजन महोदय ने आगम साहित्य संदर्भित विवरणों के आधार पर पद्मपीठ पर आधारित देवी के इस स्वरूप की प्रतिमाओं को ही पूजा-अनुष्ठान में उपयोग के लिए उपयुक्त माना है।[8] आगमन-साहित्य के अन्तर्गत अंशुभद्‌भेदागम्‌ में यद्यपि दुर्गा प्रतिमा के लिए 'समपाद स्थिता चैव पद्मपीठो परिस्थिता' अवश्य कहा गया है,[9] किन्तु यह तथ्य देवी की स्थिति प्रदर्शन के निमित्त है, न कि प्रतिमा की पूज्यता के निर्धारण के लिए। आगमों में दुर्गा के इस रूप की प्रतिमा के लिए पद्मपीठ पर चित्रित किये जाने की बाध्यता का किंचित भी संकेत नहीं मिलता है। सुप्रभेदागम्‌ में दुर्गा प्रतिमा को पद्मपीठ के अतिरिक्त महिष के शिर पर स्थित अथवा सिंह पर आरूढ़ होने के विकल्पों को समान स्थान दिया गया है,[10] किन्तु उपर्युक्त उल्लिखित अम्बिका--मंदिर में उपलब्ध पद्मपीठ आधारित प्रतिमाओं को ही पूज्यता की शास्त्रीय स्वीकृति के अनुरूप माना गया है। यहां पर महिषासुर मर्दिनी के स्वरूप का प्रतिनिधित्व करने वाली पांच प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं। इसमें से गर्भगृह के दोनों पार्श्वों एवं पृष्ठ भाग की जंघा स्थित रथिकाओं में देवी के स्वरूप के अनुसार अथवा उससे साम्य रखती हुई सभी प्रतिमाएँ वृहद पद्मपीठ पर आधारित हैं। मात्र इसी कारण से ही इन सभी तीनों प्रतिमाओं को पूजा अनुष्ठान के लिए उपयुक्त मान लिया गया है,[11] यद्यपि मंदिर के पृष्ठ भाग की पश्चिमी जंघा स्थित रथिका में उपलब्ध प्रतिमा में ही महिषासुरमर्दिनी स्वरूप की पुष्टि हुई है। यहाँ पर स्थानक आलीढ़--मुद्रा में चित्रित देवी का दक्षिण

चरण महिष के पृष्ठ भाग पर तथा वाम दृढ़ता से भूमि पर स्थित है। देवी के इस अष्टभुजी स्वरूप के दक्षिण कर क्रमशः अंकुश, महिष के कुकुद पर प्रहार कर रहे त्रिशूल, बाण एवं आक्रमण को उद्यत शिर के पीछे तक ऊपर उठे हुए खड्‌ग तथा वाम कर--घण्टा, पूर्णचाप, पाश से युक्त एवं अन्तिम महिष की भग्न ग्रीवा से उद्‌भूत पुरूष रूप में असुर के केशो को ऊपर कर्षित करते हुए ग्रहण किये हुए हैं। इसके साथ ही प्रतिमा के दक्षिणाधः भाग में महिष के पृष्ठ भाग में दाँत गड़ाये हुए देवी का वाहन सिंह तथा वामाधः भाग में महिष का छिन्न-मस्तक भी प्रदर्शित है। अम्बिका की शुक से सामीप्य की पुष्टि करते हुए देवी के वामोर्ध्व पार्श्व में शुक का चित्रण (चित्र सं-1), इस प्रतिमा की प्रमुख विशेषता है।[12]

महिषासुर मर्दिनी की उपर्युक्त वर्णित प्रतिमा के

एवं शिल्प--ग्रंथों में उपलब्ध महषासुर मर्दिनी स्वरूप के लाक्षणिक विवरणों के साथ ही सुप्रभेदागम में वर्णित तथ्य 'महिषस्य शिरस्थिताम्, सिंह रूढ़ा' की अक्षरशः पुष्टि हुई है, किन्तु पद्मपीठ पर स्थित न होने के कारण मात्र से ही महिषासुरमर्दिनी की इस पूर्णतः शास्त्रोक्त प्रतिमा को भ्रमवश पूजा-अनुष्ठान के लिए अनपयुक्त मानने का तथ्य प्रस्तुत किया गया है।[15]

लाक्षाणिक वैशिष्ट्य से युक्त एक अन्य प्रतिमा भी इसी मंदिर के सभामण्डप की दक्षिणी जंघा स्थित रथिका में उपलब्ध है।[13] देवी की इस अष्टभुजी स्वरूप की मूर्ति के दक्षिणी कर क्रमशः ब्रज, महिष के कुकुद पर स्थित त्रिशूल, बाण तथा महिष की भग्न ग्रीवा से उद्‌भूत हो रहे पुरूष रूप में असुर पर आक्रमण को उद्यत खड्‌ग से युक्त है जबकि वाम कर--धण्टा, खेटक तथा धनुष के साथ एवं अन्तिम तर्जनी मुद्रा में है, जिससे संधानित किया जा चुका चक्र महिष के कबन्ध में धँसा हुआ प्रदर्शित है। यहाँ पर सिंह पर आसीन देवी का दक्षिण चरण महिष के कबन्ध पर तथ वाम इसी ओर अधः भाग में प्रदर्शित उसके छिन्न-मस्तक के ऊपर स्थिर है। महिषासुरमर्दिनी का यह सम्पूर्ण चित्रण पद्मपीठ के स्थान पर एक साधारण पीठिका के ऊपर आधारित है (चित्र सं.-2)।[14] देवी की इस प्रतिमा में पौराणिक

उपर्युक्त उल्लिखित आलेख में देवी के महिषासुर मर्दिनी स्वरूप की पूर्णता के लिए मान्य लक्षण--लांछनों की अपेक्षा पद्मपीठ पर स्थित होने के तथ्य को ही अधिक महत्व दिया गया है।[16] इसी कारण वह गर्भगृह की जंघा स्थित दक्षिणी एवं उत्तरी भद्र रथिकाओं में पूर्णतः अक्षत जीवित अवस्था में क्रमशः महिष एवं पुरुष रूप में प्रदर्शित दैत्य के साथ देवी की संघर्षरत प्रतिमाओं को मात्र पदम्--पीठ पर आधारित होने मात्र से ही पूज्यता की शास्त्रीय

स्वीकृति से युक्त मान लिया गया है।[17] गर्भगृह की दक्षिणी जंघा में महिष रूप में दैत्य के चित्रण से युक्त प्रतिमा में अष्टभुजी देवी[18] का वाम चरण भूमि पर दृढ़ता से स्थिर तथा दक्षिण महिष के पृष्ट भाग पर है। इसके साथ ही देवी के प्रथम दक्षिण कर से महिष के पृष्ठभाग पर चक्र प्रक्षेपित किया जा चुका है, द्वितीय कुकुद पर प्रहार कर रहे त्रिशूल, तृतीय बाण, चतुर्थ सम्पूर्ण शक्ति से आक्रमण की मुद्रा में देवी के शिर के पीछे स्थित खड्ग तथा वाम क्रमशः घण्टा, एवं चाप से युक्त है। यहां पर देवी का तृतीय कर अभय मुद्रा में प्रदर्शित और अन्तिम चतुर्थ महिष के मुख के अन्दर धँसा हुआ उस पर नियन्त्रण स्थापित करने में संलग्न है। (चित्र सं.-3)।

इसी प्रकार गर्भगृह की उत्तरी जंघा में पूर्णतः पुरूष रूप में चित्रित दैत्य के साथ युद्धरत देवी के अष्टभुजी स्वरूप की प्रतिमा विद्यमान है।[19] यहाँ पर देवी का दृढ़ता से स्थिर दक्षिणी चरण इसी ओर पुरूष रूप में प्रस्तुत असुर के पैरों के पीछे हैं, जबकि नाभि तक ऊपर उठा वाम चरण असुर के मेरूदण्ड पर दबाव डाल रहा है। इसी कारणवश दायें हाथ में खड्ग लिये हुए असुर किंचित आगे बढ़ते हुए पूरी तरह से झुक गया है। इस प्रतिमा में देवी के शिर के पीछे उनके दक्षिणोर्ध्व कर में स्थित खड्ग असुर के ऊपर सम्पूर्ण शक्ति से प्रहार करने को उद्यत है। इसके अतिरिक्त इसी ओर के अन्य कर क्रमशः बाण एवं चक्र से युक्त है, जबकि उनके एक दक्षिण कर में ग्रहण किये गये त्रिशूल को अन्य वाम कर से अवलम्बन प्रदान करते हुए सामने की ओर नीचे झुके हुए असुर की पीठ पर आक्रमण की मुद्रा में प्रदर्शित किया गया है। देवी के अन्य वाम कर घण्टा तथा धनुष से युक्त है, जबकि एक कर भग्न हो चुका है। इस चित्रण में देवी के वाहन सिंह को मूर्ति के दक्षिणाधः भाग में प्रदर्शित किया गया है। यहां पर वह अपने दोनों पिछले पैरों पर स्थिर होकर असुर के कटि-प्रदेश पर अपने दाँत एवं नखों को गड़ाये हुए है।

वर्तमान में इस प्रतिमा में देवी का मुख, वक्षस्थल तथा असुर के स्कन्धों से लेकर समस्त शिरोभाग भग्न हो चुका है। इस प्रतिमा को भी वृहद् पद्मपीठ पर स्थापित किया गया है (चित्र सं.4)। पद्मपीठ पर स्थापित इन दोनों प्रतिमाओं में अशुमदभेदागम को 'पद्मपीठो परिस्थिता तथा सुप्रभेदागम में प्रस्तुत 'कुर्यातपद्मासन समागताम' की स्वीकृति अवश्य होती है, किन्तु यहां पर वामभागेऽग्रतो देव्याश्छिन्न शीर्ष महासुरम (देवी के सामने बायें भाग में कटे हुए मस्तक वाले महादैत्य) का प्रदर्शन न होने के कारण इन प्रतिमाओं की पूज्यता की शास्त्रोक्त पूर्णता ही नहीं, अपितु महिषासुरमर्दिनी के रूप में भी स्वीकार करने का साक्ष्य प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त नहीं है।

महिषासुर की देवी के साथ युद्धरत चित्रण की शास्त्रोक्त स्वीकृति न होने पर भी शिल्पकार प्रायः इस प्रकार की कौतुकपूर्ण झाँकी प्रस्तुत के लोभ का

संवरण नहीं कर सके। परिणामतः इस प्रकार की अनेक प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गयी। सामान्य हिन्दू समाज जाने-अनजाने इस प्रकार के चित्रण युक्त प्रतिमाओं को जो पूजा के लिए स्वीकार करता रहा, यद्यपि इस प्रकार की प्रतिमाओं में चित्रित दैत्य की अक्षत अवस्था देवी के साथ उसके द्वारा सायुज्य ग्रहण कर समरूपता स्थापित करने में बाधक रही। ऐसी स्थिति में दैत्य एवं उसकी दानवी अस्मिता को प्रदर्शित करते हुए सम्पूर्ण दृश्यांकन को पूजा की शास्त्रगत स्वीकृति के अनुरूप मानना उचित नहीं हैं। दैत्य के साथ देवी की युद्धरत चित्रण से युक्त प्रतिमाओं को महिषासुर मर्दिनी की अपेक्षा 'महिषासुर निग्रही' कहना अधिक समीचीन होगा।[20] दुर्गा के महिषासुर मर्दिनी स्वरूप की पूर्णता वस्तुतः दुर्गा सप्तशती के कथन की स्वीकृति से ही सम्भव हो सकती है।[21]

महिषासुरमर्दिनी स्वरूप में छिन्न--मस्तक असुर के चित्रण के साथ ही दक्षिणी भाग में उनके वाहन सिंह को धर्ममीश्वर अर्थात धर्म का प्रतीक एवं षडविध ऐश्वर्य से युक्त तथा समस्त चराचर जगत को धारण करने वाला स्वीकार कर उसके भी पूजन का विधान प्रस्तुत किया गया है।[22] वस्तुतः सिंह ही जगत में धर्म की स्थापना करता है। धरती का प्राकृतिक--संतुलन बनाये रखने की मर्यादा के कारण ही उसे समस्त चराचर जगत को धारण करने वाला मानकर पूज्य स्वीकार किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि वर्तमान--युग में जन जीवन की अक्ष्क्षुणता बनाये रखने के लिए सिंह के महत्व की अनुभूति के तत्व पौराणिक युग में ही विद्यमान थे। पद्म पुराण से इसी आशय का संकेत राजा दिलीप द्वारा वशिष्ठ की गाय नन्दिनी की सेवा प्रसंग के अन्तर्गत मिलता है। यहां पर नन्दिनी के ऊपर क्रमण को उद्यत सिंह ने कहा कि मैं शिव का गण कुम्भोदर हूँ। पार्वती द्वारा स्नेह से पालित देवदार के वन को हाथियों के द्वारा नष्ट किये जाने के पश्चात् से मैं अब इसके रक्षार्थ नियुक्त हूँ।[23] कालिदास के ग्रन्थ रघुवंश में भी इसी कथानक की लालित्यपूर्ण प्रस्तुति के साथ ही अप्रत्यक्ष रूप से वनों की रक्षा के लिए सिंह की भूमिका का महत्वांकन किया गया है।[24] दुर्गा सप्तशती के साथ ही विभिन्न पौराणिक उल्लेखों में महिषासुरमर्दिनी के वाहन के रूप में सिंह की पूज्यता का भाव मात्र देवी के वाहन होने के कारण ही नहीं, अपितु उसकी विश्व में धर्म की स्थापना करने की राजोचित मर्यादा के निर्वहन की स्वीकृति के लिए भी है। इस प्रकार दुर्गा के महिषासुरमर्दिनी स्वरूप की पूर्णता देवी के वामभाग में छिन्न मस्तक असुर तथा दक्षिण भाग में सिंह की उपस्थित के आधार ही निश्चित की जा सकती है।

सन्दर्भ

1. दुर्गासप्तशती गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2052, अध्याय-वैकृतिक रहस्य, 29-30 .... वामभागेऽग्रतो देव्याश्छिन्न शीर्ष महासुरम। पूजयेन्महिषं येन प्राप्त सायुज्य मीशया.....। **2.** उपर्युक्त अध्याय--3; मार्कण्डेय--पुराण, वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई 2009, अध्याय 80। **3.** महाभारत, गीता प्रेस गोरखपुर, 1956; 4, 6, 15। **4.** उपर्युक्त 4, 23, 8। **5.** उपर्युक्त, 6, 23, 5; अग्नि--पुराण, गुरूमण्डल सीरीज, XVII गुरूमण्डल ग्रन्थ माला, क्लाइव रोड, कलकत्ता 1957, 50, 1.। **6.** महाभारत 6, 23, 6; तैत्तरीय अरण्यक, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1898, 10, 1; पृ. 700; मत्स्य--पुराण, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 2001, 259, 55-59; वामन--पुराण, वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, 1951, 19, 6; स्कन्द--पुराण, वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बई, 1967, 6, 118, 23; 6.118, 32; 6. 120,13;। **7.** दुर्गा सप्तशती, वैकृतिक रहस्य, 24-30; मत्स्य पुराण 259, 55-65; अग्नि--पुराण, 50, 1-5; 52, 16-17; गरूड़--पुराण, 19, 6; विष्णु धर्मोत्तर--पुराण (उद्धृत) टी.ए. गोपीनाथ राव, एलिमेन्टस आफ हिन्दू आयनोग्राफी, द लॉ प्रिंटिंग प्रेस, मद्रास, 1914, I, II प्र.346, एपेन्डिक्स सी, पृ. 112; शिल्परत्न (उद्धृत) उपर्युक्त I, II, ऐपेन्डिक्स--सी प्र. 111, चतुर्वर्ग चिन्तामणि (हेमाद्रि), एशियाटिक

सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता 1877, व्रतखण्ड, अध्याय 1, पृ. 79-80; अपराजित पृच्छा (भुवनदेव); गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा, 1950, 223, 7-11; रूपमण्डल (सूत्रधार मण्डन) (सं.) बलराम श्रीवास्तव, मोतीलाल बनारसीदास, नेपाली खपरा, वाराणसी सम्वत 2021, 5, 45-50; देवतामूर्तिप्रकरण तथा रूपमण्डल (सूत्रधार मण्डन) कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला--12, कलकत्ता, 1966, 2, 20-30; बी.सी. भट्टाचार्य, इण्डियन इमेजज, भाग--1, कलकत्ता, शिमला, 1921, प. 36; । **8.** के.वी. सौन्दर राजन, ए देवी कल्ट न्यूक्लस एट जगत, राजस्थान, विश्वेस्वरानन्द इण्डोलॉजिकल जर्नल, होशियारपुर भाग--1 1963 पृ. 105। **9.** टी.ए. गोपीनाथ राव, वही, I, II, पृ. 341 एपेन्डिक्स सी पृ. 105। **10.** श्याम वर्णा सुवदंना महिषस्य शिरस्थिताम्, सिंहरूढ़ां च वा कुर्यातपद्मासन समागताम वही, पृ. 341, एपेन्डिक्स सी. पृ. 106। **11.** के.वी. सौन्दर राजन, उपर्युक्त पृ. 134-135। **12.** वही, पृ. 134; आर.सी. अग्रवाल, देवी कल्ट एट जगत--ए रिव्यू, विश्वेस्वरानन्द इण्डोलॉजिकल जर्नल, हाशियारपुर, भाग III 1956, पृ. 282-83। **13.** के.वी. सौन्दर राजन, उपर्युक्त पृ. 135-36 आर.सी. अग्रवाल, उपर्युक्त पृ. 283-84। **14.** वहीं प. 135। **15.** वही। **16.** वही । **17.** वही प. 134-135। **18.** वही पृ. 134। **19.** वही पृ. 135। **20.** 'महिषासुरनिग्रही' के लिए दृष्टव्य शब्द निग्रह (निअग्रहअअप) रोक रखना, नियन्त्रित करना, दमन करना, वश में करना जैसे इन्द्रिय निग्रह, दबाना, रोकना दौड़कर पकड़ लेना गिरफ्तार करना आदि, वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, दिल्ली, 1966 पृ. 523। **21.** दुर्गासप्तशती, अध्याय वैकृतिक रहस्य, श्लोक 29-30। **22.** वही, श्लोक 30-31.........दक्षिण पुरतः सिंह समग्र धर्ममीश्वरम्। वाहन पूजयेद्देव्या धृतयेन चराचरम.....। **23.** पद्म पुराण, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1894, 203, 20-23। **24.** रघुवंश (सं.) मोरेश्वर रामचन्द्र काले मुम्बई वैभव, मुद्रायन्त्रालये, मुम्बई शक सं. 1844 उत्तर खण्ड सर्ग--2, 36-38

अमंपुरः पश्यति देवदारूं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन
यो हेमकुम्भस्तननिः सृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसारसज्ञ।

कण्डूय मानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमाली ढमिवासुरास्त्रे।
तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमाद्रि कुक्षौ,
व्यापरितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागत् सत्तववृत्ति।

रीडर एवं अध्यक्ष इतिहास विभाग,
युवराजदत्त पोस्ट--ग्रेजुएट कॉलेज, लखीमपुर खीरी (उ.प्र.)
कपूरथला, सिविल लाइन्स,
लखीमपुर-खीरी-2627001
मो.-09795537303

●

बात 11 अगस्त, 1942 की है। अंग्रेजी फौज की घेराबंदी को तोड़कर अपने हाथों में राष्ट्रीय ध्वज तिरंगा लिए सचिवालय भवन पर फहराने के लिए उन्मत्त थे वे सात नौजवान हिन्दुस्तानी। किन्तु क्रूर विदेशी सरकार ने उनके सीने पर गोलियों की बौछार कर दी - तड़-तड़, धांय-धांय और वे सातों वीर एक-एक करके नीचे आते गए। मरते-मरते वे यही गगनभेदी नारे लगाते रहें - 'अंग्रेजों, भारत छोड़ दो, हिन्दुस्तान हमारा है।' और राष्ट्रीय ध्वज को सलामी देते हुए छह सपूत तो घटनास्थल पर ही वीर गति को प्राप्त हो गए। सातवें को जब अस्पताल पहुंचाया गया तो आपरेशन कक्ष की मेज पर पड़े हुए उस सातवें सपूत ने डॉक्टर से पूछा, 'डाक्टर साहब, अंग्रेजों की कोई गोली मेरी पीठ पर तो नहीं लगी है।' डाक्टर के नहीं कहने पर सातवां गौरवान्वित हो उठा और उसके चेहरे पर एक अद्भुत चमक आ गई जो कुछ ही पल बाद हमेशा के लिए चली गई।

भरतपुर महाराजा सूरजमल की कलात्मक छतरी

डॉ. आलोक कुमार

पूर्वजों के स्मृति चिह्नों को संजोकर रखने के लिए स्मारकों का निर्माण विश्व इतिहास में प्राचीनकाल से देखने को मिलता है। सामान्यतः अंतिम संस्कार स्थल पर टीला या चबूतरा बनाकर उस स्थान को सुरक्षित या चिह्नित किया जाता है। चबूतरे के नीचे पूर्वजों से सम्बन्धित जीवन उपयोगी वस्तुओं को रखने की प्रथा भी थी। भारद्वाज तथा बौद्धायन गृहसूत्र में इस प्रकार के निर्माणों का वर्णन मिलता है तो शतपथ ब्राह्मण में मृत व्यक्ति को भूमिस्थ करने वाले स्थान पर स्मारक बनाने की चर्चा विस्तार से की गई है।

छतरी का अर्थ

राजसी वैभव का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है छत्र मन्दिर में भगवान की मूर्ति पर भी देखने को मिलते हैं जो उनके या शासक के सर्वशक्तिमान वैभवशाली मान प्रतिष्ठावान होने का संकेत प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार छत्र 'राजस्व' व 'देवत्व' का प्रतीक है और जहाँ तक समाधि या स्मारक का प्रश्न है, ये भी छत्र की भाँति ही आकार प्रकार के बनाए जाते हैं। इसी से इन्हें छतरी (छत्री) या 'देवल' भी कहा जाता है। छतरी में मृतक की राख या अन्य स्मृति चिह्नों को रखकर उस पर 'लोहरी' स्थापित की जाती है जिस पर नाम, तिथि वार, संवत् आदि का अंकन किया जाता है। पहले लोहरी अंकन के अनेकानेक तरीके प्रचलन में थे।

राजस्थान में 'छतरी' निर्माण का इतिहास तीन सदी पुराना है। भारत में मुस्लिम प्रवेश के साथ मृतकों पर मकबरे निर्माण की सुदीर्घ परम्परा का भी प्रवेश हुआ। हिन्दू व मुस्लिम, छतरी व मकबरों में मूलभूत समानता उनके

शीर्ष स्थान पर निर्मित गुम्बद के कारण है, वैसे गुम्बद की गोलाकार छत विश्व में सभी शीर्ष आच्छादनों में समान है, अन्य बातों में भिन्नता प्रतीत होती है।[2] साधारण रूप में देखने से ये छतरियाँ मुस्लिम-वास्तु का अनुकरण जान पड़ती है किन्तु वस्तुतः उनका वास्तु पूर्णरूपेण भारतीय है जो कि 'अमरावती' में अंकित मण्डपों से भिन्न नहीं है। इनके सुन्दर उदाहरण 17-18 वीं शताब्दी में उदयपुर जोधपुर, मण्डौर, जयपुर[3] तथा उत्तर प्रदेश के मथुरा क्षेत्र के 'गोवर्धन' में मानसी गंगा किनारे द्रष्टव्य है। यहाँ पर भरतपुर जाट रियासत के प्रथम महाराजा सूरजमल से लेकर अन्य जाट शासकों की अतिसुन्दर व कलात्मकता से परिपूर्ण छतरियाँ (समाधियाँ) आज भी जाट स्थापत्य व वास्तु का लोहा मनवाने हेतु शान से खड़ी हैं।

हिन्दू स्थापत्य में छतरियाँ केवल अलंकरण का साधन न होकर स्वतंत्र व मुख्य निर्माण के रूप में भी देखने को मिलती हैं। मुस्लिम स्थापत्य कला के मुख्य साधन तोरण थे, जबकि हिन्दू स्थापत्य निर्माण पद्धति में बनी छतरियों में मुस्लिम स्थापत्यकला की तोरण प्रधानता का अनुकरण करते हुए स्तम्भों के मध्य के शीर्ष भाग को तोरण के आकार का निर्मित किया जाने लगा। यह नवीन निर्माण मुस्लिम स्थापत्य का प्रभाव लिए हुए था क्योंकि आरम्भिक छतरियों में यह पद्धति नहीं दिखाई देती है। कला मर्मज्ञ जेम्स फरग्यूसन का मानना है कि राजपूतों ने छतरी निर्माण परम्परा की प्रेरणा मुसलमानों से प्राप्त की और दाहक्रिया स्थलों पर छतरियों का निर्माण करवाया। परन्तु भारतीय शास्त्रों के अध्ययन से इसके विपरीत प्रमाण प्राप्त होते हैं। इन छतरियों का निर्माण दूरस्थ व अलग-थलग स्थानों पर करवाया जाता था।[4]छतरी निर्माण की इसी परम्परा का अनुकरण करते हुए जाट शासकों ने भरतपुर से 40 कि.मी. दूर वर्तमान उत्तर प्रदेश के मथुरा जनपद के 'गोवर्धन' नामक स्थान पर अपनी छतरियों का निर्माण करवा कर अपनी 'बृजेन्द्र' की उपाधि को सार्थकता प्रदान की, साथ ही अपने प्रिय आराधना स्थल को दर्शनीय भी बना दिया। कुसुम सरोवर गोवर्धन स्थित महाराजा सूरजमल की छतरी-निर्माण का अनुपम उदाहरण है। मुसुमोखर[5] -- कुसुम--सरोवर छतरी : महाराजा सूरजमल

कुसुम सरोवर, राधाकुण्ड--गोवर्धन मार्ग के मध्य सड़क किनारे स्थित है। इसके निकटवर्ती भू-भाग का प्राचीन नाम कुसुम वन है जिसे कुसुमा सखी की कुंज तथा रास क्रीड़ा के समय श्रीकृष्ण द्वारा श्रीराधा जी की वेणी गूँथी जाने का स्थल भी कहा जाता है।[6] कुसुम--सरोवर के प्राचीन कुण्ड को ओरछा नरेश वीरसिंह देव द्वारा संवत् 1675 में पक्का बनवाया गया था। इसके उपरांत संवत् 1777 में भरतपुर के पराक्रमी शासक सूरजमल ने नए सिरे से इसे एक सुन्दर, विशाल व अगाध सरोवर के रूप में विकसित किया गया। जाट शक्ति के उत्थान काल में राजा सूरजमल का गोवर्धन में अत्यधिक समय व्यतीत होता था क्योंकि श्री गिरिराजजी व श्री हरिदेवजी दोनों ही गोवर्धन में विराजते थे और महाराजा सूरजमल के इष्टदेव थे। इस स्थान के समीप ही सूरजमल की सेना का युद्ध अभ्यास भी चलता था। जाटों के विशाल सैन्य शिविर के लिए सदैव जल से भरपूर एक अगाध जलराशि की तथा युद्धाभ्यास के लिए एकान्त व विशाल वन्य क्षेत्र की अत्यन्त आवश्यकता थी। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु इस सरोवर के निर्माण में और उसके निकटवर्ती वन्य क्षेत्र के संरक्षण में अपार द्रव्य महाराजा द्वारा निवेशित किया गया। महाराजा सूरजमल की मृत्यु के उपरान्त उनके प्रतापी पुत्र जवाहरसिंह ने अपने पिता के स्मारक के रूप में यहाँ छतरी का निर्माण करवाकर उन्हें अपनी श्रद्धांजली अर्पित की। इन दोनों की कलाभिरुचि के कारण जहाँ एक ओर 'सरोवर' ब्रज की एक दर्शनीय स्थापत्य कृति बन गया, वहीं उनकी सूझ-बूझ से इसे एक ऐसे अगाध

जलाशय का रूप प्रदान किया गया जो अनेक वर्षों की लगातार अनावृष्टियों में भी कभी जलविहीन नहीं हुआ।

कुसुम सरोवर के निर्माण की योजना भी ब्रज के किसी कला कुशल व सिद्धहस्त शिल्पी ने तैयार की होगी। प्राचीन इमारतों की शैली पर ऊँची कुर्सी (जगती) वाला यह भव्य सरोवर हरीतिमायुक्त बन शोभा से सम्पन्न है। जवाहरसिंह की स्थापत्य के प्रति रुचि व समझ का यह ज्वलंत प्रतीक है। सूरजमल की छतरी शहर से दो मील की दूरी पर गोवर्धन पर्वत के उत्तरी--पूर्वी छोर पर स्थित कला का शानदार नमूना है[7] जिसका निर्माण स्थापत्य की पूर्ण समझ व उसकी क्रियान्विति के प्रति सचेत जवाहरसिंह द्वारा करवाया गया। हरिदेव जी के मन्दिर व दोनों ओर स्थित दो छोटी छतरियों के संलग्नक रूप में यह कुसुम सरोवर के सामने समानान्तर रूप से स्थित है जबकि पार्श्व में यह एक सुन्दर व विशाल उद्यान की ओर अभिमुख है।[8] कुसुम सरोवर के समस्त भवन (छतरियाँ) व अन्य निर्माण 'रूपवास' से प्राप्त सफेद बलुआ पत्थर (मलाई पत्थर) से निर्मित हैं। यह पत्थर अपनी गुणवत्ता व स्वरूप दोनों में ही संगमरमर के तुल्य हैं।[9]

मुख्य भवन के रूप में महाराजा सूरजमल की छतरी है जिसके दोनों ओर आकार प्रकार में निम्न या लघु श्रेणी की दो और छतरियाँ हैं। जिसमें दाहिनी तरफ रानी किशोरी व बाँई तरफ रानी हंसिमा की छतरी है। यह सम्पूर्ण इमारत 460 फीट लम्बे चबूतरे पर निर्मित है जिसमें मुख्य समाधि 57 फिट का वर्गाकार भवन है। फस.एस. ग्राउस ने अपनी पुस्तक 'Mathura–A district Memories' पृ. संख्या 307–308 पर लिखा है[10] कि इस समाधि स्थल के प्रारूप का सबसे आकर्षक पहलू उच्च पदस्थ जगती (Plinth) की सुस्पष्ट रूपरेखा है जो अपनी सूक्ष्मता व उत्तमता से पूर्णतः परिष्कृत है। सरोवर से समाधि तक आने के लिए पहले घाट की सीढ़ियाँ हैं और फिर समाधि के समानान्तर लम्बा प्लेटफार्म है, जो भवन की जगती के रूप में प्रयुक्त किया गया है इस 30 फीट ऊँची कुर्सी (जगती) पर यह भवन निर्मित है। प्लेटफार्म पर ऊपर आने हेतु दोनों तरफ से आरामदायक सीढ़ियों की व्यवस्था है। सीढ़ियों से ऊपर आने पर छोटी-छोटी किन्तु भव्य छतरियों की एक शृंखला मुख्य तीनों छतरियों (समाधियों) के सामने परदे के समान बनाई गई है जो दूर से अत्यधिक मनोहारी दृश्य 'लघु व दीर्घ' का एक सुन्दर तालमेल प्रस्तुत करती है। इस सम्पूर्ण भवन का कुसुम सरोवर में प्रतिबिम्ब अत्यधिक दर्शनीय है।

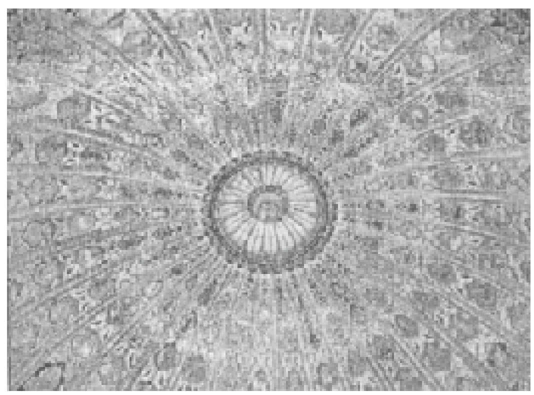

समाधि भवन का बाह्य भाग बरामदे के रूप में है तथा 20 बहुपर्णिल मेहराबदार स्तम्भों पर टिका है। इसके अंदरूनी भाग में मुख्य समाधि कक्ष है जो 16 नक्काशीदार स्तम्भों पर अवलम्बित है तथा इसकी चारों दिशाओं में तीन-तीन मेहराबदार द्वार बने हैं। इस खुले बहुपर्णिल मेहराबदार व शानदार जाली के काम वाले स्थानों को वर्तमान में दरवाजों से बन्द कर दिया गया है। इस 57 फीट वर्गाकार भवन की मेहराबदार छत और उसके अंदरूनी भाग में (गुम्बद के नीचे व चारों ओर दीवारों पर) चमकदार रंगों की सहायता से अत्यधिक सुन्दर भितिचित्रों का निर्माण किया गया है। गुम्बदीय छत के बिल्कुल नीचे, भवन के केन्द्र में, संगमरमर से निर्मित अष्ट कोणीय उठे

हुए स्थल (2x2 फीट) के मध्य में प्रभुचरण और उसके चारों ओर भगवान से सम्बन्धित वस्तुएँ -- चक्र, तलवार, कटार, गदा, पुष्प, माला, सूर्य--चन्द्र आदि सुन्दरतापूर्वक उकेरी गयी है। इसका उद्देश्य केवल मात्र 'संस्कार स्थल' को दूषित होने से बचाने के लिए था।" हिन्दुओं को इस प्रकार समाधि के भीतर पाषाण निर्मित चबूतरे को बनाने तथा उस पर दैवीय चिह्न अंकित करने से काफी संतोष प्राप्त होता है। यहाँ के जाटों ने, मुगलिया राजकुमारों व बुन्देलखण्ड के गुसाइयों से एक कदम आगे बढ़ाते हुए अपनी समाधियों के निर्माण में मुसलमानों से अधिक धन खर्च किया और उनकी खूबसूरती व आकर्षण को बनाने में अपना पूर्ण सामर्थ्य लगा दिया। फिर भी इन समाधि स्थलों को दैवीय चिह्नों से रहित छोड़ पाने की हिम्मत वे नहीं जुटा सके।[12]

सम्पूर्ण भवन में मेहराबों का उपयोग अत्यधिक जीवन्त प्रतीत होता है। यद्यपि इसकी प्रेरणा जाट शासकों को अपने 'पूर्ववर्ती मुगल स्थापत्य' से प्राप्त हुई थी। परन्तु यहाँ निर्माण पूर्णतः हिन्दू प्रमाणिकता से किया गया है। दीवारों पर कतारबद्ध 'आलों' व 'कलशों' का निर्माण सुन्दर अवश्य लगता है पर काफी रसहीन व ऊबाऊ भी लगता है। जेम्स फरग्यूसन ने भी अपनी पुस्तक में 'डीग व गोवर्धन' के बहुपर्णिल मेहराबों के अतिसुन्दर, प्रामाणिक व परिष्कृत प्रयोग की प्रशंसा की है।[13]इस छतरी की एक अन्य विशेषता बंगला या बंगलेदार या आयताकार दीर्घाओं पर मेहराबदार वक्रीय रूपरेखा की छतों का होना है जिसका प्रयोग समाधि के अग्रभाग के निर्माण में 'बहुतायत' से हुआ है। जैसाकि नाम से ज्ञात होता है इस प्रकार की छत बंगाल के स्थापत्य में प्रयुक्त की जाती थी। वहाँ पर अत्यधिक जलवृष्टि होने के कारण ढलवां छतों का, धनुषाकार या अर्धचापाकार या अर्धचन्द्राकार छतों का निर्माण किया जाता था जो कि पत्थर की अनुपस्थिति में तथा आरम्भ से वहाँ पर बहुतायत से प्राप्त होने वाले बाँस (Bamboo) से निर्मित होती थी। बाँस का अत्यधिक लचीला होने के कारण किसी भी आकार में मोड़ा जा सकता है जिसका वे अत्यधिक प्रयोग अपने घरों के निर्माण में करते थे। धीरे-धीरे इसका प्रयोग बंगाल से 17वीं सदी में दिल्ली, 18वीं में लाहौर और 1650 से लगभग समस्त भवनों में होने लगा।[14]

समाधि की अंदरूनी दीवारों पर अत्यधिक श्वेत रंग का 'गचकारी'[15] का काम किया गया है जो कि सफेद संगमरमर से मिलता जुलता है। यहीं पर महाराजा सूरजमल के जीवन की अनेक झाँकियाँ भित्तिचित्रों के रूप में सुन्दरता व परिपक्वता से अंकित की गई हैं। पहला चित्र सूरजमल के दरबार का चित्र है जिसमें वे मसनद लगाकर हुक्का गुडगुडाते हुए अपने मंत्रियों से मंत्रणा करते हुए चित्रित हैं।[16]

इस चित्र के माध्यम से यह विदित होता है कि आरम्भ में जाट नरेश सिंहासन के स्थान पर जमीन पर पालथी मारकर अथवा घुटनों के बल बैठकर (नमाज की तरह) दरबार आहूत करते थे जो जातीय परम्परा अथवा कबीलाई संस्कृति का प्रतीक है, जिसमें गणतंत्रीय आधार पर सभी समान होते थे। शासक की अवधारणा के स्थान पर 'नेता' या 'सरदार' अथवा पथ--प्रदर्शक का पद विशेष होता है। शासक की अवधारणा के स्थान पर 'नेता' या 'सरदार' अथवा पथ-प्रदर्शक का पद विशेष होता है। इसी प्रकार के दरबार का चित्र (फोटो) महाराजा जसवन्तसिंह के काल का भी प्राप्त होता है (1862 ई. कभी) जो सभी के मध्य समानता व एकता के भाव को दर्शाता है।

दूसरा चित्र महाराजा सूरजमल द्वारा अपने आराध्य श्री हरदेव जी की पूजा आराधना करते हुए है। तीसरा चित्र हिरन, सुअर का शिकार खेलने का है। जबकि चौथे चित्र में युद्ध का दृश्य अंकित किया गया है जिसमें सूरजमल हाथी पर आरूढ़ है और छोटी पालकी में 'हरदेव जी' विराजे हैं- यह चित्र,

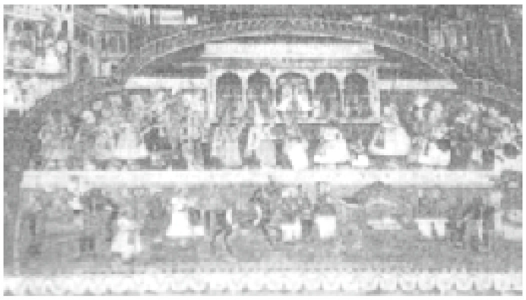

युद्ध भूमि में आराध्य देव को साथ ले जाने की प्राचीन हिन्दू परम्परा का तो वर्णन करती ही है, सूरजमल की धार्मिक प्रवृति का भी द्योतक है। एक अन्य चित्र में ऊँट की सवारी करते महाराजा सूरजमल तथा पीछे दो हाथी हैं जिन पर कोई बैठा नहीं है हाथी सुन्दरता पूर्वक सजाए गए हैं सम्भवतः जुलूस का दृश्य है या किसी त्यौहार का, सम्भवतः दशहरे के जुलूस का दृश्य है।

ये समस्त चित्र उच्च वर्ग या राजसी वर्ग की जीवन शैली का चित्रण है। इसी प्रकार गहरे रंगों का प्रयोग पशु आकृतियों के बनाने में किया गया है जिनमें हाथी, घोड़े, ऊँट आदि हैं। इन सारे चित्रों के मध्य में भगवान श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओं से सम्बन्धित चित्र बनाए गए हैं। चारों दीवारों के 'सन्धि स्थल' पर चारों ओर तीन देवी--देवताओं की मूर्तियाँ अंकित हैं जिन्हें मोर, फूल, फब्बारों के साथ-साथ सुन्दर भूरे रंग के फूलों से अलंकृत किया गया है। इन सभी चित्रों में महाराजा सूरजमल अपने शानदार व्यक्तित्व पर 'हल्के भूरे रंग' के लिबास के कारण पहचाने जाते हैं जबकि अपने आराध्य हरदेव जी के समक्ष वे श्वेत पोशाक में हैं जो कि पवित्रता का द्योतक है। ये सारे रंग अत्यधिक चटकीले व चमकदार दिखते हैं।[17] गुम्बद की अंदरूनी छत पर बेहतरीन चित्रकारी है जिसमें विभिन्न देवी--देवताओं को अंकित किया गया है जो लम्बवत् रूप में छोटे-छोटे बनाए गए हैं परन्तु इनकी बनावट अत्यधिक साफ व बेहतरीन तरीके की है। छत के मध्य में कमलदल जैसी आकृति है -- 'लाल पीले गहरे रंगों का' प्रयोग अधिक हुआ है।

महाराजा सूरजमल की समाधि के दाएँ ओर जो छोटी छतरी मौजूद है वह उनकी सबसे प्रिय रानी किशोरी की है जिसका निर्माण दोहरे स्तम्भों पर गुम्बद स्थापित करके किया गया है। यहाँ पर भी छतरी के मध्य 'चरण--पादुका' तल का निर्माण है जो चिह्न रहित है परन्तु यहाँ पर पहले सूरजमल की छतरी की भाँति सारे राजचिह्न मौजूद थे केवल तलवार के स्थान पर 'हार' को अंकित किया गया था जो इसे महिला की छतरी (समाधि) होना प्रमाणित करता है।[18] वास्तुकला की दृष्टि से इसका सबसे उज्ज्वल पक्ष गुम्बद व स्तम्भों के मध्य छत पर निर्मित भित्तिचित्र हैं -- पहले चित्र में ब्रज पर इन्द्र के कोप का चित्रण है जिसमें गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण के साथ उनके बड़े भाई बलराम तथा गोपियों एवं पर्वत के नीचे ब्रज की जनता को चित्रित किया गया है, जो अपने गो-धन के साथ पर्वत के नीचे खड़े हैं पर्वत के ऊपर इन्द्र देव का भी चित्रण है।

एक अन्य चित्र में विवाह-समारोह का चित्रण है

जो महाराजा सूरजमल के रानी किशोरी के साथ विवाह से सम्बन्धित है इसमें सूरजमल की मूछें सफेद चित्रित कर यह दर्शाने की कोशिश की गई है कि विवाह के समय सूरजमल की आयु 40 वर्ष से अधिक थी और प्राप्त प्रमाण,[19]इस तथ्य को सिद्ध भी करते हैं कि महाराजा की आयु विवाह के समय लगभग 40-43 वर्ष के मध्य थी। विवाह--समारोह का बड़ा वास्तविक चित्रण है जिसमें देवगणों द्वारा नवदम्पति को आशीष तथा ब्राह्मणों द्वारा मंत्रोच्चारण आदि करते हुए दिखाया गया है।

यहीं पर तीसरा चित्र युद्ध से सम्बन्धित है जिसमें दो पक्षों के सैनिक घुड़सवार सेना व हाथी सेना का चित्रण है। मृत सैनिकों को भी चित्रित किया गया है। इसी में दुर्ग के द्वार पर एक महिला को चित्रित किया गया है, जिसके ऊपरी भाग पर भगवान को भी चित्रित किया गया है। साथ ही महल के ऊपरी भाग में भी महिलाओं के चित्र अंकित हैं जो सम्भवतः राजसी महिलाओं की युद्ध व संकटकाल में कर्त्तव्यनिष्ठा को चित्रित करते हैं। लोहागढ़ भरतपुर के दुर्ग में रानी किशोरी के महल की महत्त्वपूर्ण स्थिति भरतपुर राजपरिवार तथा महाराज सूरजमल की दृष्टि में रानी के महत्व को दर्शाती है। गोवर्धन स्थित कुसुम-सरोवर में भी सूरजमल की समाधि के दाहिनी ओर पदस्थापित होकर रानी ने प्रशासन व परिवार में अपनी महत्वपूर्ण स्थिति की पुष्टि की है। जवाहर सिंह द्वारा निर्मित सूरजमल की छतरी के Extension के रूप में रानी की समाधि को देखा जा सकता है - ऐसा इसलिए कि उनकी मृत्यु सूरजमल, जवाहर सिंह, रतन सिंह व नवल सिंह की मृत्यु के काफी समय पश्चात् हुई। इस समाधि का निर्माण उनके 'गोद धरे पुत्र' राजा रणजीत सिंह के आदेश से हुआ होगा।[20]रानी ने अनेक बार भरतपुर रियासत को प्राणवायु प्रदान की जिससे इस महिला की तात्कालिक राजनीतिक, कूटनीति व सामयिक व्यवस्था को हृदयंगम करने तथा उसी अनुसार कार्य नीति अपनाने की बुद्धिमत्ता व चातुर्य प्रमाणित है।

महाराजा सूरजमल की समाधि (छत्तरी) के बाँए तरफ सूरजमल की एक अन्य पत्नी 'महारानी हँसियाँ' की छतरी है जो सलेमपुर के चौधरी रतिराम जाट की पुत्री थी। इस छतरी में भी वही खूबियाँ है जो रानी किशोरी की छतरी में हैं -- इस छतरी की धनुषाकार या 'चापाकार' छत पर भी भित्तिचित्रों को अंकित किया गया है जिसमें पहले चित्र में श्रीकृष्ण व राधा को मुगल चित्रकला शैली में झूला-झूलते हुए दिखाया है।[21]दो गोपियाँ झूला-झूलाते हुए भी दर्शायी गई हैं और सामने झाड़ी में मोर का भी चित्रण है। दूसरे चित्र में महल में महाराजा को प्रवेश करते हुए दिखाया गया है जिनमें उसका स्वागत विभिन्न वाद्य बजा कर से किया जा रहा है, ब्राह्णों द्वारा मंत्रोच्चारण तथा देवताओं द्वारा आशीष दिया जा रहा है रानी भी अपनी दासियों के साथ चित्रित है। यह सम्भवतः किसी धार्मिक समारोह अथवा युद्ध से राजा के विजयी होकर लौटने के दृश्य का चित्रांकन है।

अगले चित्र में जमुना नदी व जन्माष्टमी के त्यौहार का अंकन है। वसुदेव नवजात श्रीकृष्ण को बाढ़ग्रस्त यमुना में शेषनाग जी के छत्र के अन्तर्गत ले जाते हुए चित्रित किए गए हैं -- साथ ही जन सामान्य का नदी से सम्बन्ध भी चित्रित किया गया है।

रानी हसिया की समाधि के साथ ही एक छोटी गुम्बद के नीचे एक छोटे चबूतरे पर संभवतः रानी की किसी विश्वासपात्र अनुचरी की समाधि भी बनाई गई है जो पाद चिह्न रहित है।

इस प्रकार रानी किशोरी व रानी हसियाँ की छतरियों (समाधियाँ) के महाराजा सूरजमल की छतरी के साथ निर्माण होने से, दोनों ही रानियों की सूरजमल के जीवन में महत्वपूर्ण स्थिति स्पष्ट होती है। साथ ही -- प्रो. कालिकारंजन कानूनगो साहब का मानना था कि यह दोनों एक थीं, इस पर से भी परदा उठ जाता है, क्योंकि दोनों की गोवर्धन में अलग-

अलग छतरियाँ व भरतपुर में अलग-अलग महलों का होना, दोनों के पिता के नाम, सम्बन्धित जन्म स्थलों के नाम, सभी कुछ अलग-अलग होने के कारण इनके दो अलग-अलग होने का पर्याप्त प्रमाण है।

सन्दर्भ

1. शतपथ ब्राह्मण 13-8-1-2, पांडे, राजबली, वाराणसी, 1947 पृ. 12। **2.** गुप्त परमेश्वरी लाल, भारतीय वास्तुकला, पृ. 24। **3.** वही। **4.** फरग्यूसन जेम्स, हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड ईर्स्टन आर्किटेक्चर, भाग-II, 1998. पृ. 164.। **5.** मीतल, प्रभुदयाल, ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, मथुरा, 1996, पृ. 104-105। **6.** ग्राउस, फ्रेडरिक सोलोमन, मथुरा, ए डिस्ट्रिक्ट मैमोयर, 1872 पृ. 330। **7.** स्लीमैन, कर्नल, रैम्वेल्स एण्ड रिकलैक्शन आफ एन इण्डियन सोल्जर, 1836, अध्याय--55। **8.** वही, अध्याय--55। **9.** वही। **10.** वही, पृ. 307-308। **11.** वही अध्याय-55 (1836)। **12.** वही। **13.** फरग्यूसन जेम्स, हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड ईर्स्टन आर्किटेक्चर, भाग - II 1998. पृ. 169। **14.** फरग्यूसन जेम्स. हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड ईर्स्टन आर्किटेक्चर, भाग-II, 1998. पृ. 253-254। **15.** स्लीमैन, कर्नल, Stucco Work, 1836, अध्याय--55। **16.** वही, अध्याय--55 (1836)। **17.** वही, अध्याय--55 (1836)। कर्नल स्लीमैन का इन चित्र को भद्दा व रुचिहीन बताना एक विदेशी व सैन्य अधिकारी के रूप में तो ठीक ही है क्योंकि उन्हें भारतीय धर्म व आस्था का भान नहीं था उन्होंने एक विदेशी सैलानी के रूप में अपना मात्रा वर्णन लिखा है जबकि वास्तव में उन्होंने परोक्ष रूप में इसकी जीवन्तता की प्रशंसा की है। **18.** वही, अध्याय--55 (1836)। **19.** यू एन. शर्मा-- जाटों का नवीन इतिहास (सूरजमल का रानी किशोरी से विवाह) भाग-2, पृ. 169-170। **20.** "गंगा मैया के राणजीत सिंह बेटा, किशोरी की गोद धरे' यह काठेड जनपद में प्रचलित लोकोक्ति है। **21.** श्री ए.के. वर्मा ने अपनी पुस्तक-- 'Monuments of Bharatpur' में इस चित्र को सूरजमल की रानी हंसियाँ को झूला झूलते हुए बताया है। जबकि सूरजमल की पहचान भारी शरीर व गलमुच्छे (गुल्ला मूछ) से प्रत्येक चित्र में होती है। इस चित्र में वे पतली मूछों में दिखाए गए -- जो संभव नहीं है -- सिर पर मोर पंख जैसी कोई वस्तु (कलगी) है।

(एमएसजे कालेज भरतपुर)
ए-22 रंजीत नगर भरतपुर
(राज.)-321001

प्रतिस्वर

वैचारिकी का आचार्य चतुरसेन कृत अर्थ भाष्यम् विशेषांक (पौराणिक भारत) प्राप्त हुआ।

पत्रिका का अध्ययन किया किन्तु कई स्थानों पर कपोल-कल्पित बातें लिखी हैं। वेदांग की संख्या 70 व उपनिषद की 1194 (पृ. 94) लिखी है जो वेद विरुद्ध है। बाल्मीकि रामायण को बुद्ध के कुछ पूर्व का बताया (पृ. 80), मूर्तिपूजन की बातें (पृ. 81) आदि भ्रामक है। आपके पास ठोस उदाहरण हो तो बताइये। शास्त्रार्थ की स्थिति हो तो वह मान्य है। आप विचार करें। अन्यथा कोई ठोस कदम उठाना पड़ेगा। पाठकों के समक्ष सत्य, स्पष्ट, महत्वपूर्ण तथ्य सामने आयें।

देवमुनि
परोपकारिणी सभा
दयानन्द आश्रम, केसरगंज, अजमेर-305001
ई-मेल : psabhaa@gmail.com

(ठोस कदम यही है कि आपका मत लिख भेजने का कष्ट करें - संपादक)

इतिहास के आइने में 'बोस' और 'गांधी' के वैचारिक मतभेद

नरेश शर्मा

सुभाष चन्द्र बोस और महात्मा गांधी भारतीय इतिहास के ऐसे दो आधार स्तंभ हैं जिन्होंने अपने जादुई व्यक्तित्व और कृतित्व के कारण भारतीयों के दिलों पर राज किया है। इसे इतिहास की विडम्बना ही कही जाएगी कि, उनके वैचारिक मतभेदों ने भारत के इतिहास को गहराई से प्रभावित किया। दोनों का लक्ष्य एक था किन्तु रास्ते इतने भिन्न थे कि वैचारिक मतभेद अवश्यंभावी हो गए। महात्मा गांधी की विचारधारा केवल भारत की स्वतंत्रता के लक्ष्य तक सीमित नहीं थी। जबकि सुभाष चन्द्र बोस के जीवन का एकान्तिक लक्ष्य भारत की ब्रिटिश शासन से तत्काल मुक्ति था। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वे बड़े से बड़े त्याग और संघर्ष करने से भी पीछे हटने को भी तैयार नहीं थे। दोनों जननेता थे और देशभक्ति, राष्ट्रप्रेम की भावना दोनों में कूट-कूट कर भरी थी।

इतिहास में यह रोचक तथ्य है कि यदि दोनों महानायकों में वैचारिक मतभेद नहीं होता और वे एकनिष्ठ होकर भारत की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करते तो तत्कालीन भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर क्या प्रभाव पड़ता? दरअसल दोनों के जीवन दर्शन में विभिन्न पहलुओं पर व्यापक मतभेद दिखाई पड़ते हैं। भारतीय इतिहास में सुभाष चन्द्र बोस प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने देश भक्ति के लिए आई.सी.एस. जैसी प्रतिष्ठित सरकारी सेवा को पराधीनता का प्रतीक मानकर ठोकर मार दी और देश सेवा को अधिक महत्वपूर्ण समझा।

जुलाई 1921 में इंग्लैण्ड से स्वदेश लौटते ही सुभाष चन्द्र बोस मुम्बई के मणिभवन निवास में महात्मा गांधी से भेंट करने पहुंचे। उस समय भारत में महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन चरम स्थिति पर जा पहुंचा था। सुभाष बाबू अपने जीवन लक्ष्य को प्राप्त करने की उम्मीद में महात्मा गांधी से ठोस आश्वासन चाहते थे। गांधी जी द्वारा एक वर्ष में स्वराज्य प्राप्ति की घोषणा से सुभाष बाबू को आशा की किरण दिखाई दे रही थी। एक घंटे की इस मुलाकात में तीन मुद्दों अर्थात् टैक्स न देने, असहयोग से आजादी कैसे संभव है? और एक वर्ष के भीतर स्वराज्य का आधार, पर विस्तृत चर्चा हुई किन्तु सुभाषबाबू को गांधी जी द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण संतुष्ट नहीं कर पाए। अहिंसा, विद्रोह--विरोध की जगह

'ब्रिटिश सरकार के हृदय परिवर्तन की आशा' से उन्हें बड़ी निराशा हुई। अपनी पहली मुलाकात में ही दोनों की चिंतन पद्धति, स्वतंत्रता प्राप्ति के अलग-अलग रास्ते स्पष्ट हो गए। भारत को स्वतंत्र कराने की महात्मा गांधी की योजना उन्हें बिल्कुल भी व्यावहारिक नहीं लगी। उन्हें चितरंजन दास के शब्द याद आए--"महात्मा (गांधी) बड़े प्रतिभापूर्ण ढंग से आन्दोलन शुरू करते हैं.... हर कदम पर सफल हो जाते हैं जब तक कि आन्दोलन चरम सीमा पर नहीं पहुंच जाए। उसके बाद उनका हौंसला पस्त होने लगता है, कदम लड़खड़ाने लगते हैं।" सुभाष चन्द्र बोस भारत की आजादी के लिए सशस्त्र क्रांति में विश्वास रखते थे। उन्होंने कहा था -- "हम अपने खून से अपनी स्वतंत्रता का मूल्य चुकाएंगे और ऐसा करके हम राष्ट्रीय एकता की नींव रखेंगे। अपनी आजादी को बनाए रखने में हम तभी समर्थ होंगे जबकि इसे अपनी बलिदान और खून से प्राप्त करें।" सुभाषचन्द्र बोस की सोच थी--"राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए क्रांतिकारी आन्दोलन आकस्मिक आन्दोलन की तरह नहीं है....इसके लिए ईंट जमाकर शक्ति सदन तैयार करने की मेहनत जरूरी है, जिसके सहारे शासकों को चुनौती दी जा सके।" गांधीजी ने सुभाष चन्द्र बोस को चितरंजन दास से मिलने का सुझाव दिया।

नवम्बर 1921 में सुभाष चन्द्र बोस कांग्रेस में शामिल हो गए। कम अवधि में ही उन्होंने बंगाल में कांग्रेस का जनाधार विस्तृत कर दिया। उनके जोश को देखकर स्टेट्समैन समाचारपत्र ने लिखा--"कांग्रेस को एक योग्य व्यक्ति मिल गया है और ब्रिटिश सरकार ने लायक अफसर खो दिया है।"

1921 में कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में चितरंजन दास के 'स्वतंत्रता के बदले ही सहयोग का प्रस्ताव' और हसरत मोहानी के 'पूर्व स्वराज्य' के प्रस्ताव का गांधी जी द्वारा विरोध करने से सुभाष बाबू का मन खिन्न हो गया। 4 फरवरी 1922 के चौरीचौरा काण्ड के कारण असहयोग आन्दोलन को निलम्बित कर देने के गांधी जी के निर्णय से सुभाष चन्द्र बोस की उम्मीदें टूट गई। इस घोर निराशा और दमघोंटू वातावरण में 'गांधी नीति' पर प्रश्न चिन्ह लगना स्वाभाविक था। इस घटना पर जेल से सुभाष चन्द्र बोस की टिप्पणी थी--"उस समय तो डिक्टेटर के आदेश का पालन कर लिया गया किन्तु कांगेस कैंप में नियमित विद्रोह हो गया ... यह निर्णय राष्ट्रीय दुर्घटना (नेशनल कलैमिटी) से कम नहीं था।"

1923 में स्वराज्य दल के गठन, चुनाव में भाग लेने, और विधान मण्डल में प्रवेश के मुद्दे को लेकर गांधी जी का कट्टर विरोधी रूख एक बार पुनः स्पष्ट हो गया लेकिन शीघ्र ही उन्होंने परस्थितियों को भांपकर अपनी नीति ज्यादा व्यावहारिक लगी। उन्होंने स्वराज्य दल को पूर्ण सहयोग देकर उसके हाथ मजबूत किए।

इसी बीच सुभाष चन्द्र बोस को ब्रिटिश सरकार ने 'गोपीनाथ साहा काण्ड' में फंसाकर मांडले जेल में निर्वासित कर दिया। जहां दो वर्ष छः माह इक्कीस दिन जेल में रहकर सुभाष बाबू 16 मई 1927 को रिहा हुए। सुभाष चन्द्र बोस 1927 में बंगाल प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष चुन लिए गए परन्तु गांधी जी जे.एम.सेन गुप्त को 'त्रिमुकुट' अर्थात कलकत्ता का महापौर, बंगाल कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष. बंगाल विधान मंडल में स्वराज्य पार्टी का नेता, तीनों पर दिलाना चाहते थे किन्तु उनकी चाल सफल नहीं हो पाई।

अब तक, युवाओं में सुभाष बाबू की लोकप्रियता आसमान छूने लगी थी। चरमपंथ और क्रांतिकारी पद्धति के समर्थन में उनका गांधी् दर्शन से विश्वास उठ गया था। वे गांधी दर्शन को घातक मानने लगे थे। उन्होंने लिखा था--"साबरमती आश्रम की विचारधारा आधुनिकता के लिए हानिकारक है.. यह दर्शन नहीं निष्क्रियता है....आज हम भारत में 'सक्रियता का दर्शन' चाहते हैं। हमें सशक्त

आशावादिता से प्रेरणा लेनी है"

भारत की स्वतंत्रता में होते विलम्ब से सुभाष चन्द्र बोस बैचेन हो रहे थे। 1928-29 में पुनः भारत में आन्दोलन की परिस्थितियां बन रही थी। मई 1928 में वे गांधीजी से मिलने 'साबरमती आश्रम' गए और उनसे अनुरोध किया कि वे निवृति से बाहर आकर, आन्दोलन शुरू करें किन्तु गांधी जी ने साफ इन्कार कर दिया। कालान्तर में सुभाष चन्द्र बोस ने लिखा - "1928-29 में श्रमिक संसार में मंदी के कारण इतनी अशांति व्याप्त थी कि उस समय राजनीतिक आन्दोलन शुरू करना अवसरानुकूल होता। 1928 के मौके का फायदा न उठा पाने का उत्तरदायित्व महात्मा गांधी व उन स्वराज्यवादियों के कंधों पर था जिनके हाथों में उस समय कांग्रेस की बागडोर थीं।" उस समय पूरे भारत में युवा, छात्र संघ स्थापित हो रहे थे और वो भारत की स्वतंत्रता के लिए सब कुछ करने को उद्यत थे।

1928 में नेहरू रिपोर्ट पर गांधी--सुभाष मतभेद एक बार फिर उजागर हुआ। सुभाष चन्द्र बोस 'औपनिवेशिक' स्वशासन' और 'जमींदारों का सम्पत्ति पर हक' के विरोधी थे। नेहरू रिपोर्ट पर सुभाष चन्द्र बोस को गांधी जी की समझौतावादी नीति संतुष्ट नहीं कर पायी। उन्होंने पूर्ण स्वराज्य का संशोधन पेश किया। जवाहरलाल नेहरू ने भी उनका समर्थन किया परन्तु जब गांधी जी का प्रस्ताव वोट के लिए सामने आया तो नेहरू जी अनुपस्थित थे और उस प्रस्ताव में 'स्वतंत्रता' का कहीं उल्लेख नहीं था। बोस--नेहरू प्रस्ताव पारित नहीं हो सका। बोस का विश्वास था कि गांधी जी के प्रस्ताव के पक्ष में गांधीवादियों ने वोट इसलिए डाला कि वो किसी भी कीमत पर गांधी जी को कांग्रेस से अलग नहीं होने देना चाहते थे।

दिसम्बर 1928 में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के समय बोस ने सैन्य प्रशिक्षित स्वयंसेवकों का दस्ता तैयार कर, स्वयं जनरल कमांडिंग अफसर की हैसियत से यूनीफार्म से सुसज्जित होकर अधिवेशन में भाग लेने पहुंचे। उनका यह प्रयास सब लोगों को अच्छा लगा किंतु गांधी जी को यह सहन नहीं हुआ। उन्होंने कलकत्ता अधिवेशन को 'बरट्राम' मिल्स सर्कस' की संज्ञा दी।

64 दिन से अनशन पर बैठे जतीनदास की लाहौर में शहादत पर गांधी जी की चुप्पी से सुभाष चन्द्र बोस को बड़ा दुःख पहुंचा। उन्होंने कलकत्ता के नागरिकों की ओर से 600 रूपये भेजकर उनका शव लाने की व्यवस्था की। देश दहल उठा था परन्तु गांधी जी चुप रहे। सुभाष चन्द्र बोस ने लिखा है कि -- "अपनी हिमालय जैसी गम्भीर भूलों के बाद भी महात्मा जी नहीं बदलेंगे। यह उपवास यदि नैतिक दबाव नहीं है तो क्या है और अहिंसा के पुजारी को इसके सहारे की आवश्यकता क्यों होनी चाहिए? यह तथ्य की वे उपवास के प्रश्न पर एक आंतरिक प्रकाश को देख सकते हैं, अहिंसा के स्वभाव को नहीं बदल सकता। यह नैतिक दबाव अथवा हिंसा को अहिंसा में परिवर्तित नहीं कर सकता। जब यतीन्द्रदास ने भूख हड़ताल का सहारा लिया और अपने को उत्सर्ग कर दिया तो महात्मा जी ने उनके सम्बन्ध में सहानुभूति का एक भी शब्द नहीं कहा। यथार्थ में उन्होंने एक मित्र को लिखा कि यदि अपना मुंह खोलते तो वे निंदनीय बात ही कहते।" क्रास रोड्स, पृ. 365.

एक और घटना ने भी बोस को बड़ा क्षुब्ध किया। कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन से सात दिन पूर्व वाइसराय लॉर्ड इरविन के क्रांतिकारियों द्वारा बम विस्फोट की घटना से सुरक्षित बच जाने के लिए कांग्रेस ने 'स्वतंत्रता प्रस्ताव' के साथ वाइसराय, लेडी इरविन ओर उनके सेवकों के सुरक्षित बच जाने के लिए उन्हें, 'बधाई संदेश' भी संयुक्त कर दिया। राजनीतिक प्रस्ताव के साथ इसे जोड़ना उचित नहीं था, परन्तु गांधी जी के कारण ऐसा हुआ। बोस को विश्वास था कि ऐसा गांधी जी ने इस कारण किया था ताकि वो वाइसराय को शांत कर भावी समझौते की

भूमि तैयार करना चाहत थे।

1929 के लाहौर अधिवेशन के समय गांधी जी द्वारा जवाहरलाल नेहरू को कांग्रेस अध्यक्ष बनाने का निर्णय भी बोस को उनकी कूटनीतिक चाल लगी। कारण, गांधी जी ने सम्भावित जनआन्दोलन की संभावना को भांपकर ऐसा किया था। दूसरे, वामपंथियों से भी नेहरू जी को दूर कर दिया गया। सुभाष चन्द्र बोस को कांग्रेस के आंतरिक केन्द्र से दूर करने के लिए महासचिव, कार्यकारिणी समिति से भी निष्कासित कर दिया गया।

31 अक्टुबर 1929 को लॉर्ड इरविन द्वारा 'औपनिवेशिक स्वशासन' की घोषणा और कांग्रेस के 'देहली घोषणा पत्र' का सुभाष चन्द्र बोस ने विरोध किया। कांग्रेस की अपेक्षाओं के विपरीत सुभाष बाबू को लॉर्ड इरविन की घोषणा में कुछ भी सकारात्मक महसूस नहीं हुआ था। कालान्तर में उनकी आंशका सत्य साबित हुई।

यद्यपि लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव जरूर पारित हुआ परन्तु कांग्रेस के पास उद्देश्य पूर्ति के लिए न तो कोई ठोस नीति थी और न ही कोई कार्यक्रम। बोस ने कांग्रेस के वामपंथी दल की ओर प्रस्ताव पेश किया, जिसमें कांग्रेस द्वारा एक समानान्तर सरकार स्थापित कर श्रमिक, किसान, हरिजन, युवा, छात्र दोनों को संगठित करने का सुझाव था परन्तु बोस सहित पूरा वामपंथी वर्ग को गांधी जी के कारण कांग्रेस से हटा दिया गया।

12 मार्च 1930 को गांधीजी द्वारा सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने की घोषणा से बोस की उम्मीदें पुनः जागी, परन्तु आगामी घटनाक्रम और गांधी जी द्वारा 5 मार्च 1931 को गांधी--इरविन समझौते के द्वारा उनकी उम्मीदों पर पानी फिर गया। साथ ही शहीद भगतसिंह, राजगुरू और सुखदेव को न बचाने के कारण भी गांधी जी पर प्रश्न चिन्ह लग गए। बोस ने कहा--"कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि महात्मा गांधी इन शर्तों पर राजी हो जाएंगे।" उनके विचार में यह समझौता 'अभिशाप' था।

काग्रेस के 1931 के करांची अधिवेशन में सरदार पटेल को अध्यक्ष बनाकर गांधी--इरविन समझौते का अनुमोदन करवाना भी एक 'कुटनीतिक चाल' थी। सुभाष चन्द्र बोस ने उसी समय 'अखिल भारतीय नौजवान कॉन्फ्रेन्स' का आयोजन कर गांधी नीति और गांधी--इरविन समझौते का खुलकर विरोध किया।

सुभाष चन्द्र बोस की दृष्टि में 1931 के दूसरे गोलमेज सम्मेलन में गांधी जी को अकेले इंग्लैण्ड भेजकर कांग्रेस ने भारी भूल की थी। उन्होंने लिखा--"कांग्रेस के पन्द्रह सदस्य और मुस्लिम राष्ट्रवादियों के साथ यदि गांधी जी गए होते तो कुछ लाभ होता....गांधी जी का वहां बार--बार हार्दिक सहयोग देने के प्रस्ताव ने भी बड़ी दयनीय स्थिति पैदा कर दी थी। यदि वे स्टालिन, मुसोलिनी या हिटलर की तानाशाही भाषा में बात करते तो जॉन बुल के समझ में आता और वह श्रद्धा से नत हो जाता।" 18 दिसम्बर 1931 को गांधी जी निराश और खाली हाथ वापिस भारत लौट आए! 29 दिसम्बर को कांग्रेस कार्यकारिणी द्वारा गांधीजी को लॉर्ड इरविन से मिलने के अनुरोध का भी सुभाष चन्द्र बोस ने विरोध किया। बोस का विरोध सही था। अब कुछ भी होने वाला नहीं था। लॉर्ड इरविन भारतीयों के लिए कुछ भी सुविधा देने को तैयार नहीं था। स्वयं इरविन ने गांधी जी से मिलने के लिए स्पष्ट इनकार कर दिया।

मई 1933 में वियना प्रवास के समय सुभाष चन्द्र बोस ने विट्ठल भाई पटेल से मिलकर भारत की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के संदर्भ में एक वक्तव्य भेजा--"मि. गांधी का सिविल अवज्ञा आन्दोलन का नवीनतम कार्य उनकी असफलता की स्वीकृति है....राजनेता के रूप में गांधी असफल रहे हैं। समय आ गया है कि नई पद्धति तथा नये सिद्धान्तों के अनुसार कांग्रेस का सुधारवादी पुर्नगठन किया जाए। इसके लिए एक नया नेता होना अनिवार्य

है....यदि कांग्रेस स्वयं यह आमूल परिवर्तन कर सके तो सबसे अच्छा है अन्यथा कांग्रेस में एक नई पार्टी बनानी होगी जो सुधारवादी तत्वों पर रची जाए।"

सुभाष बाबू ने फरवरी 1933 से अप्रैल 1936 के चार वर्ष विदेश प्रवास में बिताए। भारत के हालात से चिंतातुर सुभाष बाबू विदेश में भी हर पल आजादी की लड़ाई के संगठन में लगे रहे। तत्कालीन राजनीतिक घटनाक्रम से उन्होंने निष्कर्ष निकाल लिया था कि सत्याग्रह और अहिंसा की गांधीवादी नीति भारत में जनचेतना जागृत करने में तो सफल रही किन्तु सिविल सर्विस और मिल्ट्री सर्विस पर वह पूर्णतः प्रभावहीन थी सो अंग्रेज सरकार यथावत चल रही थी। अप्रैल 1936 में स्वदेश वापसी के साथ ही सुभाष बाबू अपने लक्ष्य पूर्ति में जोर शोर से जुट गए। जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें कांग्रेस कार्यकारिणी समिति का सदस्य बना दिया।

1938 में सुभाष चन्द्र बोस की अनुपस्थिति में उन्हें कांग्रेस का मध्यक्ष चुना गया। गांधीजी ने सुभाष चन्द्र बोस के भाई के निवास पर प्रवास के समय ही इस बात का संकेत कर दिया था। बोस इस समय इंग्लैण्ड में थे। माना जाता है कि यह सब सोची समझी रणनीति के तहत हुआ था। गांधी मनोवृति के लोग सुभाष चन्द्र बोस को वामपंथियों से पृथक करना चाहते थे जैसा कि आठ वर्ष पूर्व लाहौर अधिवेशन के समय जवाहर लाल नेहरू को अपनी ओर मिलाकर, किया गया था लेकिन यहां एक बुनियादी अंतर था। गांधी जी बोस को अपने अनुकूल तोड़ते--मरोड़ने में सफल नहीं हो सके।

1939 के राजनीतिक संकट ने गांधी--बोस के मतभेद को और बढ़ा दिया। सुभाष बाबू विश्व युद्ध की सम्भावना और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का लाभ उठाकर भारत की स्वतंत्राता के लिए कांग्रेस की तरफ से शीघ्र ही कोई कठोर निर्णय लेना चाहते थे। इसलिए वे पुनः कांग्रेस के अध्यक्ष बनना चाहते थे किन्तु गांधी जी नेहरू जी के पक्ष में थे। जवाहर लाल नेहरू तीन बार (1929, 1936, 1937) कांग्रेस अध्यक्ष रह चुके थे। उनके द्वारा इनकार कर देने पर गांधी जी ने कुटनीतिक रूप से मौलाना आजाद का नाम प्रस्तावित करना चाहा परन्तु उनके द्वारा भी असमर्थता जाहिर कर देने पर गांधीजी ने अंततः पटाभिसीतारमैया का नाम घोषित कर दिया।

सुभाष चन्द्र बोस ने अपना नाम वापिस लेने से स्पष्ट इनकार कर दिया। कई प्रादेशिक कांग्रेस कमेटियों द्वारा बोस मनोनीत हो चुके थे। 26 जनवरी 1939 को, सरदार पटैल, राजेन्द्र प्रसाद, जयरामदास, दौलतराम, जे.बी. कृपलानी, जमनालाल बजाज, शंकर देव राव, भूलाभाई देसाई कार्यकारिणी के सदस्यों ने बारदोली की बैठक के बाद रमैया के पक्ष में अपना समर्थन दे दिया। सुभाष चन्द्र बोस ने आचार्य नरेन्द्र देव को सर्वसम्मति से चुनने की शर्त पर अपना नाम वापस ले लेने की बात कही। गांधी जी ने रमैया की हार को अपनी हार होने का संकेत कर दिया था। कांग्रेस के इतिहास में पहली बार गांधी जी को ऐसी खुली को ऐसी खुली चुनौती दी गई। अध्यक्ष पर के लिए होने वाले निर्वाचन को टाला नहीं जा सका और सुभाष चन्द्र बोस चुनाव जीत गए। पूरा देश चकित रह गया। विरोध का नाटक रचा गया और सुभाष चन्द्र बोस के खिलाफ, कार्यकारिणी के सदस्यों ने इस्तीफे देकर उनके लिए संकट खड़ा कर दिया। गांधी जी के नाम बोस की अपील व्यर्थ गई। गांधी जी ने उन्हें स्वयं कार्यकारिणी समिति बनाने, वामपंथी योजना लागू कर देने की बात कह दी। सुभाष चन्द्र बोस ऐसी स्थिति में विवश हो गए। उन्होंने कहा--"मेरा लक्ष्य, उद्देश्य यही होगा कि गांधी जी का विश्वास प्राप्त कर सकूं। यदि औरों का विश्वास जीत लिया किन्तु भारत के सबसे महान पुरूष का विश्वास नहीं जीत सका तो बड़े दुर्भाग्य की बात होगी।"

फरवरी 1939 में बोस ने गांधी जी का समर्थन पाने के लिए पुनः एक और प्रयास किया। वर्धा में

उन्होंने गांधी जी से भेंट की किन्तु गांधी जी का असहयोग बना रहा। गांधी जी द्वारा इस समय राजकोट रियासत के विवाद सुलझाने, अनशन करने में व्यस्त हो जाने से यह महत्वपूर्ण प्रश्न विलम्बित ही बना रहा। गुरूदेव रविन्द्रनाथ टैगोर ने भी समझौते की अपील की किन्तु गांधी जी ने अनदेखी कर दी। बोस ने विवश होकर कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया। गांधीजी सुभाष चन्द्र बोस को कांग्रेस से हटाने में सफल हो चुके थे। बोस को पद की लाललला कभी भी नहीं थी वे तो केवल भारत की स्वतंत्रता के लिए कांग्रेस की ओर से कोई प्रभावी और शीघ्र निर्णय करवाने के लिए अध्यक्ष बनना चाह रहे थे। सुभाष चन्द्र बोस ने तीन दिन के अन्दर ही 'फॉरवर्ड ब्लॉक' नये दल के गठन की घोषणा कर, भारत की आजादी के लिए युवा, छात्र, श्रमिक, किसान सभी वर्ग का जनसमर्थन जुटाने में जुट गए।

इस घटनाक्रम का एक दूसरा पहलू भी है। ए. के. मजूमदार के के.एम. मुंशी की सूचना के आधार पर बताया है कि 1938 में बोस, बम्बई प्रवास के समय जर्मन कांसुल से गुप्त ढंग से भेंट कर रहे थे जो गांधीजी को किसी भी शर्त पर मंजूर नहीं था।

सतीशचन्द्र माइकोप ने लिखा है कि बोस ने तत्कालीन परिस्थितियों में मार्ग दर्शन हेतु वीर सावरकर से भेंट की। उन्होंने सलाह दी थी--"तुम्हारे जैसे साहसी और उद्यमी नवयुवकों को भारत से खिसक जाना चाहिए और ब्रिटेन को शत्रुपक्ष की सहायता लेकर भारत पर सशस्त्र आक्रमण द्वारा शासकों को निकाल बाहर करना चाहिए।"

जून 1940 में हिटलर द्वारा बेल्जियम विजय, मुसोलिनी द्वारा युद्ध की घोषणा से ब्रिटेन की स्थिति दिन प्रतिदिन नाजुक होती देख सुभाष बाबू, गांधीजी से भेंट करने 'सेवाग्राम' गए और उनसे अपील की कि वो युद्ध का लाभ उठाकर आन्दोलन का नेतृत्व करें। गांधी जी द्वारा इन्कार करने पर उन्होंने स्वयं आन्दोलन शुरू करने की आज्ञा और आशीर्वाद मांगा परन्तु गांधी जी ने बोस की जिद को बैमौके और नैतिक दृष्टि से अन्यायपूर्ण मान कर कहा--"यदि तुम्हारा अन्तःकरण गवाही देता है कि आक्रमण का यह सबसे अच्छा अवसर है तो आगे बढ़ो और यथाशक्ति कर डालो। यदि तुम सफल हुए तो बधाई देने वाला सबसे पहला व्यक्ति मैं होऊंगा।" यह बोस की गांधी जी से अंतिम मुलाकात थी।

इसके पश्चात् भारतीय इतिहास का वह रोमांचक घटनाक्रम घटित हुआ जब सुभाष बाबू ब्रिटिश सरकार की आंखों में धूल झोंककर चतुराइपूर्ण ढंग से जर्मनी जा पहुंचे। उनके जर्मनी पहुंचने के समाचार ने गांधी जी की अंतरात्मा को हिला कर रख दिया। वे उनसे और प्रभावित हो गये।

6 जुलाई 1944 को अपने रेडियो संदेश में उन्होंने गांधीजी को राष्ट्रपिता की संज्ञा देते हुए संदेश दिया--"राष्ट्रपिता? भारत मुक्ति के लिए इस पावन युद्ध बेला में हम आपके आशीर्वाद और सद्भावना के आकांक्षी हैं।" 1920 से 1940 के काल में सुभाष बाबू ग्यारह बार जेल गए और पाँच वर्ष विदेश में निर्वासित जीवन व्यतीत करने पर विवश हुए। कारण, ब्रिटिश सरकार उन्हें 'सबसे खतरनाक व्यक्ति' का दर्जा देती थी और उन्हें भारत के राजनीतिक आन्दोलन से दूर रखना चाहती थी।

मतवैषम्य, संघर्ष व टकराव के बावजूद गांधी जी, बोस से उनकी लक्ष्यनिष्ठा, आत्मविश्वास व त्याग की भावना के अभिभूत थे। संवाददाताओं को संबोधन में उन्होंने कहा--"इस नवयुवक को बांधा जा नहीं सकता। उसका अपना विवेक उसे संयमित करता है। इस दृष्टि से वह जी उतना ही सुधारवादी, उदार है जितना कि मैं हूँ.......कांग्रेस से हटाए जाने पर भी यदि वह अहिंसात्मक संघर्ष का नेतृत्व करेगा तब आप मुझे उसके पीछे चलता हुए पाएंगे। यदि मैं आगे निकल गया तो वह भी मेरा अनुगमन करेगा।"

22 फरवरी 1944 को गांधी जी की जीवन संगिनी कस्तूरबा गांधी के जेल में निधन से शोकग्रस्त सुभाष

चन्द्र बोस ने शपथ ली--"भारत की संतति ब्रिटिश सत्ता को भारत से आमूल नष्ट करके श्रीमती कस्तूरबा गांधी की मृत्यु का प्रतिशोध लेकर रहेंगी।" आगे का ऐतिहासिक घटनाक्रम सर्वविदित है। आजाद हिंद फौज के गठन, ब्रिटिश साम्राज्य के समूल विनाश और भारत की स्वतंत्रता के लिए उनका अदम्य साहस, पराक्रम भारतीय इतिहास का विलक्षण तथ्य है।

जुलाई 1944 में रेडियो प्रसारण में उन्होंने भारत से अपने पलायन के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए कहा था--"अगर मुझे रत्ती भर भी उम्मीद होती कि विदेशी कार्यवाही के बिना हम आजादी पा सकेंगे तो मैं इस संकट काल में कभी भारत नहीं छोड़ता। अगर मुझे उम्मीद होती कि वर्तमान युद्ध जैसा आजादी पाने का दूसरा सुनहरा अवसर--हमें इसी जीवन में मिल जाएगा तो मैं शायद ही देश से बाहर कदम रखता।"

धुरी राष्ट्रों के पिछलग्गू होने के आरोप का खण्डन करते हुए उन्होंने मई 1942 में बर्लिन से अपने रेडियो प्रसारण में कहा"--बर्लिन से प्रसारण 1.05.1942 -- "मैं उन तीन धुरी राष्ट्रों का पृष्ठपोषक नहीं हूँ और जो कुछ उन्होंने किया है या जो वे भविष्य में करेंगे उसका समर्थन करना मेरा काम नहीं है। यह कार्य तो स्वयं इन राष्ट्रों के जिम्मे आता है। मेरी दिलचस्पी तो भारत में है और अगर अधिक कहूं तो सिर्फ भारत के साथ है।"

'ब्रिटिश साम्राज्य' नामक लेख में उन्होंने भारत की आजादी के लिए विदेशी सहायता प्राप्त करने के औचित्य को सिद्ध करते हुए लिखा है कि..."अगर महाशक्तिमान ब्रिटिश सरकार विश्व में भिक्षापात्र लेकर घूम सकती है, यहां तक की गुलाम और गरीब भारतवासियों के सम्मुख हाथ फैला सकती है, तब हमारे लिए बाहरी सहायता लेने में कुछ भी बुराई नहीं है। अगर हम परिस्थितियों वश ऐसी सहायता लेने के लिए विवश हो जायें, भारत को स्वाधीन कराने का काम हमारा है, केवल हमारा। यह उत्तदायित्व हम किसी अन्य पर नहीं छोड़ सकते क्योंकि यह हमारे राष्ट्र सम्मान के विरूद्ध है।"

सुभाष चन्द्र बोस की राजनीतिक धारणा, मान्यता, लक्ष्य--उद्देश्य सबकी एक धुरी थी -- 'भारत की तत्काल स्वतंत्रता'। दोनों की राजनीतिक विचारधारा में क्रिया पद्धति से बुनियादी अंतर था किन्तु दोनों के हृदयों में एक दूसरे के लिए गहरा आदर सम्मान और स्नेह भाव था। बोस ही प्रथम भारतीय थे जिन्होंने गांधी जी को 'राष्ट्रपिता' का सम्मान दिया था। आई.एन.ए. में एक फौजी टुकड़ी का नाम 'गांधी ब्रिगेड' था। युद्धकाल में अतिव्यस्त जीवन चर्या में भी वे द. पूर्व एशिया में गांधी जी का जन्म दिन मनाना नहीं भूले। उनके एकान्त लक्ष्य के प्रति गांधी जी की टिप्पणी थी--'बोस ने अपनी सेना में ऐसी ताकत भर दी थी कि वे सब धार्मिक संकीर्णताओं प्रादेशिक सीमाओं तथा जातिभेदों से ऊपर उठकर आजादी के एकान्त लक्ष्य के लिए खून बहा सके। उनकी यह अपूर्व उपलब्धि इतिहास के पृष्ठों में उन्हें अवश्य अमर कर देगी।...नेताजी के हर अनुयायी ने यही एक बात कही कि नेताजी का उनपर जादुई प्रभाव था, उनके नेतृत्व में वे सब भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए क्रियाशील रहे थे--सुभाष चन्द्र बोस 'अथ से इति' तक भारतीय थे।'

युवा और बुजुर्ग पीढी की सोच के अंतर को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था--"हमारी पीढी ने राजनीतिक संघर्ष के रूप में महात्मा गांधी का अनुसरण किया है किन्तु सभी प्रश्नों पर उनके विचारों को स्वीकार नहीं किया। इसलिए महात्मा गांधी को भारत की वर्तमान पीढ़ी के विचार और चिंतन का प्रतिपादक मानना भूल होगी.....हमारी पीढ़ी और पिछली पीढ़ी के मध्य एक बड़ी खाई है। पिछली पीढ़ी के विशिष्ट प्रतिनिधि के रूप में मैं टैगोर और गांधी का नाम लेना चाहूंगा....अगर आप टैगोर और गांधी की कृतियों का अध्ययन करें तो आप यह

पाएंगे कि उनके मस्तिष्क में सदैव यह द्वन्द्व रहा है कि पश्चिमी प्रभाव के प्रति उनकी क्या प्रतिक्रिया होनी चाहिए। जहां तक महात्मा गांधी का सम्बन्ध है, उन्होंने इस समस्या का कोई स्पष्ट समाधान हमको नहीं दिया। उन्होंने पश्चिमी विचारों को स्वीकार करने के प्रति अपने दृष्टिकोण के बारे में लोगों को सदैव अनिश्चय की अवस्था में रखा।"

सुभाषचन्द्र बोस गांधीजी के नहीं अपितु उनकी विचारधारा के विरोधी थे। टोकियो विश्वविद्यालय के छात्रों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था -- "हम गांधीजी का अनुसरण एक राजनीतिक नेता के रूप में करते हैं परन्तु हमें उनका दर्शन स्वीकार्य नहीं है......गांधीजी कुछ अर्थो में एक जटिल व्यक्तित्व है। गांधीजी के दो पक्ष है--गांधीजी एक राजनीतिक नेता के रूप में और एक दार्शनिक के रूप में। हम उनका अनुसरण एक राजनीतिक नेता के रूप में करते रहे हैं परन्तु हमने उनके दर्शन को स्वीकार नहीं किया।"

वैचारिक मतभेद होने के बावजूद सुभाष चन्द्र बोस की महात्मा गांधी में बड़ी श्रद्धा थी। उन्होंने लिखा भी था--"महात्मा गांधी एक मात्र ऐसे व्यक्ति हैं जो जनता के सर्वसम्मत प्रतिनिधि के रूप में खड़े हो सके और उनको एक विजय दूसरी विजय की ओर ले जा सकी और इसमें कोई संदेह नहीं है कि पिछली शताब्दी में भारत एक शताब्दी के आगे बराबर बढ़ गया......महात्मा गांधी ने भारत और भारत की स्वतंत्रता के लिए जो काम किया वह अनुपम और अद्वितीय है कि उनका नाम हमारे इतिहास में सदा--सदा के लिए स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा।"

बी--111, अशोक विहार,
कर्मचारी कॉलोनी,
अलवर (राज.) 301001,
मो.-9829730611

एक गड़ेरिये की सत्यनिष्ठा और न्यायप्रियता से प्रभावित होकर एक राजा ने उसे अपना मंत्री बनाया। मंत्री के रूप में उसे जो घर दिया गया था, उसमें से एक कमरा वह हमेशा बंद रखता और प्रतिदिन कुछ देर के लिए वह उस कमरे में जाता और फिर बाहर आकर ताला लगा देता। मंत्रियों ने राजा से कहा, 'महाराज ! यह मंत्री अपने घर के एक कमरे में रोज जाता है। लगता है उसमें इसने काफी धन छिपा रखा है।' बार-बार शिकायतें सुनते-सुनते राजा को भी उसके प्रति संदेह होने लगा। एक दिन राजा अचानक मंत्री के घर पहुंचा और उसने मंत्री से उस कमरे को खोलने के लिए कहा, जिसमें उसने ताला लगा रखा था। राजा जब कमरे में गया तो चकित रह गया क्योंकि कमरे में गड़रिये के वे कपड़े थे, जिन्हें वह प्रथम बार पहनकर वहां आया था। राजा वे पुराने कपड़ों को इतनी सुरक्षा में रखने का कारण पूछा। मंत्री ने उत्तर दिया, 'महाराज ! मैं जानता था कि किसी दिन दूसरों की शिकायतों को सुनकर आप मेरे प्रति संदेह करेंगे और तब मैं अपनी इन्हीं कपड़ों को पहनकर वापस चला जाऊंगा, यह कहकर वह गड़रिया चला गया। कितना अच्छा हो कि सत्ता, पद और प्रतिष्ठा के बाद हम भी इतने निस्पृह रह पाएं।'

कश्मीर के सूफी फकीरों-ऋषियों का साहित्यिक वैभव

डॉ. रंजना राजदान

कश्मीर में ऋषि परंपरा क्रमिक रूप से विकसित हुई थी हिन्दू तपस्वियों और बौद्धों से जिन्होंने वस्तुओं का औपचारिक रूप से त्याग कर दिया था। पंद्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में घाटी तरबतर हो गई थी हिन्दू तपस्वियों और बौद्धों से। कश्मीर में सामान्य शब्द था, 'रेशुत'। यह शब्द संस्कृत के ऋषि से व्युत्पन्न है। इस ऋषि परंपरा का हिन्दू और मुसलमानों द्वारा समान रूप से अनुसरण किया गया। यही कारण है कि कश्मीरी इन संतों को हमेशा याद करते हैं जैसे नुंद ऋषि/बाबा ऋषि/ऋषि मोल/ऋषि पीर आदि कहकर, परवाह न करते हुए कि ये हिन्दू थे या मुसलमान। वस्तुतः कश्मीर घाटी अपने आप में जानी जाती थी ऋषियों की फलवाटिका- "An orchard of rishis = Sants.[1]

इसी फलवाटिका में सूफीवाद, रहस्यवाद, तसव्वुफ़ का पल्लवन हुआ। तसव्वुफ़ इंसान के जेहन में इस्लाम से पहले से था। दाराशिकोह का कहना है कि तसव्वुफ़, सूफीवाद की प्रामाणिक व्याख्या उपनिषदों में मिलती है।[2] रहस्यवादियों का विशेष रुझान ईश्वर और आत्मा के बीच स्थापित नित्य प्रेम की ओर रहा है जैसे कि हम कृष्ण और गोपियों के प्रेम में अनुभव करते हैं। दुनिया के ज्यादहतर रहस्यवादी लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम तक पहुंचने का रास्ता बताते हैं। कश्मीरी रहस्यवादी कविता का अपना वैभव है, उसमें बहुत सी संस्कृतियों का सम्मिलन दिखता है। चौदहवीं सदी में ललद्यद के वक्त कश्मीरी सूफ़िज्म की शुरुआत हुई जब मुस्लिम संत और रहस्यवादी विचारक पहले-पहल साथ आए। महान मुस्लिम संत शेख नूर-उद्दीन ऋ षि को हिंदू-मुसलमान तथा अन्य संप्रदायों का आदर और प्यार मिला और वे नुन्द ऋषि के नाम से मशहूर हुए। उनपर ललद्यद का सीधा प्रभाव था। उन्होंने अपने श्रुकों के माध्यम से ललद्यद के प्रति कृतज्ञता भी प्रकट की है। रहस्यवादी कविता अठारहवीं/उन्नीसवीं/बीसवीं सदी में खूब फली-फूली। अंततः शम्स फकीर (ए डी 1843-1901) के काव्य तक में विभिन्न संस्कृतियों के सम्मिलन की छाया द्रष्टव्य है।

शम्स फकीर की पूरी जीवनी न मिलने की वजह से जम्मू-कश्मीर अकादमी ऑफ आर्ट कल्चर एण्ड लैंग्वेजेज, श्रीनगर द्वारा प्रकाशित केवल मात्र उनकी छियानवे कविताओं पर ही निर्भर रहना पड़ता है। बचपन में घर में ही उनकी पढ़ाई हुई। शम्स फकीर कुछ समय बाद कादरी सूफी संप्रदाय से जुड़े और आगे चलकर उन्होंने अनलहक का उपदेश दिया। उनके

काव्य में फारसी/अरबी और संस्कृत के शब्दों की बहुतायत के साथ कश्मीरी मुहावरों की भी प्रधानता है। उनके काव्य में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का सम्मिलन है। उनके काव्य में आत्मशुद्धि पर जोर दिया गया है। फारसी सूफी कवियों ने 'रिन्द' शब्द का अक्सर इस्तेमाल किया है, जिसे सच्चे प्रेमी के संदर्भ में प्रयुक्त किया जाता है; एक मुक्त आत्मा जो सबसे अलग-थलग है। एक कविता द्रष्टव्य है - O Rinda in order to realize the one/learn to die while still alive. आध्यात्मिकता का पहला चरण है आत्म-विजय तथा मानसिक नियंत्रण, यही जीवन रहते मुक्तदशा है।[3]

तिब्बत के राजकुमार रिंचन (1320-23 ई.) का राजा बनकर इस्लाम धर्म स्वीकारना, कश्मीर के आखिरी राजा उदयन देव (1323-38 ई.) का पराभव, कश्मीरी साम्राज्ञी कोटा रानी (1330-38 ई.) का बलिदान के बाद, 1339 ई. में शाहमीर द्वारा कश्मीर में सुलतान-शाही की शुरुआत[4], कश्मीर के इतिहास में आया नया मोड़ था। चौदहवीं सदी के प्रारंभ में कश्मीर में इस्लाम धर्म और मुस्लिम शासन की स्थापना हुई और हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के बीच आदान-प्रदान की प्रक्रिया शुरू हो गई। इस्लाम और वेदान्त के संयोग के लिए सूफी संतों ने भूमिका बनाई और बाद में शेख नूरुद्दीन जैसे संत कवियों ने मनुष्य और परमात्मा के बीच रागात्मक संबंध स्थापित करने का अनवरत प्रयास किया। रहस्यवादी अजीज दरवेश, मसनवी के माहिर महमूद गामी यूसुफ, मकबूलशाह क्रालवारी की रचनाओं में सूफी प्रभाव परिलक्षित होता है। परमानंद, लछमन रैणा और प्रकाश राम तथा कृष्ण जू राजदान की रचनाएँ भक्ति में आपादमस्तक निमग्न हैं।

कश्मीरी साहित्य की 5000 साल पुरानी परंपरा है, जब संस्कृत शिखर पर थी। मध्यकाल से पूर्व कश्मीर में शैविज्म पनपा जिसमें वसुगुप्त/उत्पल/अभिनवगुप्त/क्षेमराजा/आनंद वर्द्धन/ मम्मट/क्षेमेन्द्र/ कल्हण/विल्हण आदि अनगिनत नाम हैं। कश्मीरी भाषा का प्रयोग शितिकंठ की 'महानायक प्रकाश' (1250) नामक कृति से प्रारंभ हुआ फिर लल्लेश्वरी (14वीं सदी) फिर नुन्दऋषि फिर हब्बा खातून (16वीं सदी) और रूप भवानी (1621-1721), परमानंद (1791-1864), मकबूल शाह क्रालवरी (1820-1876), सूफी कवि शाम्स फकीर आदि और फिर 20वीं शताब्दी में इतने नाम हैं कि कश्मीरी साहित्य की समृद्धि चकित करती है।

प्रसिद्ध सूफी विचारक 'जामी' के अनुसार लौकिक प्रेम ही अलौकिक प्रेम की आधारशिला है; अतः उपेक्षणीय नहीं है। कश्मीरी साहित्य में तीन प्रमुख परंपराएँ हैं - 1. शैव परंपरा 2. वैष्णव भक्ति परंपरा 3. सूफी ऋषि कहे जाने वाले इस्लामी अध्यात्मवादियों की परंपरा। मध्यकाल में दो समानांतर प्रवृतियाँ थीं- 1. वेदांत दर्शन से प्रभावित सूफी (रहस्यवादी) काव्य 2. भक्ति काव्य। 1750 ई. से 1900 ई. तक जो काव्य रचनाएँ मिलती हैं, उन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है - 1. इसमें वह काव्य आता है जिसका मूल आधार सूफी दर्शन है जिसमें फारसी काव्य-पद्धति है। इन कवियों ने फारसी मसनवियों के आधार पर अनेक प्रेम-काव्य लिखे। ये प्रायः मुसलमान कवि थे। इनमें हैं स्वच्छक्राल/महमूद गामी/वली अल्लाह मत्तू/मकबूल शाह क्रालवारी/शम्स फकीर आदि। 2. इसमें वह काव्य आता है जिसका मूल आधार कृष्ण भक्ति एवं रामभक्ति है। इसमें उल्लेखनीय कवियों में कवि परमानंद/कृष्ण राजदान/लक्ष्मण रैणा बुलबुल/प्रकाशराम का नाम लिया जाता है। सूफी काव्य को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है- 1. मसनवी काव्य 2. मुक्तक काव्य। इन्हीं काव्य-रूपों के माध्यम से सूफी साधकों ने अपने हार्दिक भावों को अभिव्यक्ति दी है।

चौदहवीं सदी में सूफीवाद का प्रचार-प्रसार कश्मीर में हुआ और उन्नीसवीं सदी में सूफीवाद से प्रभावित कविता पराकाष्ठा पर पहुँची। सूफीवाद के प्रसार से पहले कश्मीरी कविता पर शैव दर्शन का

प्रभाव था, जो कश्मीरी रचनाकार ललद्यद और शेख नुरुद्दीन वली (नुन्द ऋषि) की रचनाओं में परिलक्षित होता है। इनका काव्य सूफीवाद और शैवमत का विलक्षण संगम कहा जाता है।[5] **ललद्यद** (1320-1392) का वह दौर था जब दो परस्पर विरोधी संस्कृतियों में घमासान उठा-पटक चल रही थी। इसी समय शिवभक्त ललद्यद और शेख नूर-उद-दीन को परस्पर एक-दूसरे का साथ मिल गया।

रहस्यवादी कविता कश्मीरी की बोलियों की विविधता और समृद्धि लिए है जिसमें विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं की अलग पहचान है। इस रहस्यवादी प्रवृत्ति की वृद्धि चौदहवीं सदी में हुई संत ललद्यद के साथ। रहस्यवादी संत रचनाकार ललद्यद ने योग में महारत हासिल कर ली थी और आम आदमी की भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था। उन्होंने मानव-कल्याण को खुद तो अपनाया ही, उसके साथ अपने सदाचरण से दूसरों को भी राह दिखायी। बाद के साहित्यकारों और आलोचकों ने उन्हें कश्मीरी संस्कृति का 'कबीर' तक मान लिया।[6] उनके काव्य में विरक्ति एवं भक्ति का अपूर्व सम्मिश्रण है।

नुन्द ऋषि (नूर-उद्दीन) के जन्म-मृत्यु के बारे में बहुत मतभेद विद्वानों के बीच है। सामान्यतया इनका समय (1378-1438) कहा जाता है। नुंद ऋषि ने बार-बार हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया है। इनका कहना था- अगर ऐसा घटित होता है तो परमात्मा आनंदित होगा। नुंद ऋषि की कविता में मृत्यु की भयावहता की व्याप्ति और उसका अटल होना भी व्यक्त किया गया है। नुंद ऋषि अपने बारे में कहते हैं- जिसने परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है और परमात्मा के बनाए रास्ते पर चलने की कोशिश करता है। नुंद ऋषि रहस्यवादी सूफी संत हैं। ईश्वर में उनका दृढ़ विश्वास और निष्ठा है, इसीलिए वह ईश्वर में विश्वास/आस्था बनाए रखने का आग्रह करते हैं।

हब्बा ख़ातून (1554-1609) कश्मीरी मुसलमान रचनाकार और संन्यासिनी थी, जिनको 'कश्मीरी बुलबुल' कहा जाता था। हब्बा खातून के पति यूसुफ शाह चक बाद में कश्मीर के शासक हो गए थे। अकबर ने उन्हें बंदी बना लिया था, वह फिर कभी नहीं लौटे। शादी से पहले हब्बा खातून का नाम जून (चाँद) था, शादी के बाद उन्हें हब्बा खातून नाम दिया गया। पिता के घर में हब्बा खातून आजाद घूमती-फिरती थीं, सरसों के खेतों के बीच और चिनार के दरख्तों की छाँह में। छोटी उम्र में उनकी शादी कर दी गई किसान परिवार में। किसान परिवार सुखी नहीं कर पाया और न उनकी हार्दिक भावनाएँ ही समझ सका। परिणामस्वरूप तलाक हो गया। जून फिर से चिनारों की छाँह में घूमने-फिरने लगी और गीतों की रचना करती गाती। कहते हैं इसी घूमने-फिरने के दौरान जून ने कश्मीर का प्रसिद्ध प्राकृतिक स्थल गुलमर्ग खोजा। जनश्रुति कहती है कि दूसरी शादी के बाद ससुराल-पक्ष ने उसके घूमने-फिरने पर संदेह किया, पति यूसुफ शाह ने चारित्रिक पवित्रता की परीक्षा लेने की बात कही। यह हब्बा ख़ातून के लिए असहनीय हो गया और उसने पहाड़ी से छलांग लगा कर जान दे दी। वहाँ कुछ दिनों बाद पहाड़ी की निचली चट्टानों से झरना फूट पड़ा। लोगों ने उसका नाम हब्बा खातून रख दिया।[7] हब्बा खातून को "The last independent poet queen of Kashmir" कहा जाता है। हब्बा खातून ने प्रार्थना की है - आत्मा/शरीर/संसार सब क्षणिक हैं, विचारों की तरह मेरा छंद-बद्ध पद्य अविभक्त सोच-विचार की मांग करता है, हे परमात्मा मेरे गंभीर अपराध को समाप्त कर दे।[8]

हब्बा खातून ने अपने समकालीन रचनाकारों के उन दिनों प्रचलित काव्य मानकों से चिपके रहने के खिलाफ आवाज उठाई। उस वक्त हब्बा खातून की अधिकांश कविता आध्यात्मिक विचार प्रधान थी। सामाजिक दुख-दर्द से दूर प्रायः व्यक्तिगत संत्रास से हब्बा खातून त्रस्त रही। उन्होंने लिखा है "O where is now the day's delight? I've waited long. The golden wine cups of the night to him belong!" अन्यत्र भी संत्रस्त भाव पाठक के मन को झिंझोड़ देता है, जब हब्बा कहती हैं - But love has

melted me like snow a waterfall as restless as the sumer streams I sleepless go.[9]

रूप भवानी (1620-1720) लिखती हैं Selflessness is the sight of the selfless/bow down at the door of the selfless/the selfless are of the highest authority/the kings of the time and the wearers of the crest and crown. इन पंक्तियों में उनका आध्यात्मिक विवेक झलकता है। आत्मा का विलयन उनके अनुसार आवश्यक है सिद्धि के लिए / अनुभूति के लिए। योग-कियाओं का भी उन्होंने वर्णन किया है, इसके साथ ही कुंडलिनी जागरण को भी सामान्य जन के लिए साधारण शब्दों में समझाया है। रूप भवानी का मानना है कि ईश्वर से परे कुछ भी नहीं है। सांसारिक कष्टों ने उनमें आध्यात्मिकता की ओर रुझान पैदा किया। उनके काव्य पर कश्मीरी शैविज्म और इस्लामिक सूफिज्म का प्रभाव था।

अरिनिमाल (अठारहवीं-शताब्दी) : अठारहवीं सदी में कश्मीर में पठानों का राज्य था। कश्मीरियों की दुर्दशा थी। बचपन में ब्याह हो गया था। ब्याह के शुरुआती दिन प्रसन्नता से भरे थे। उसके पति भवानी दास काचरू को राजदरबार में सम्मान प्राप्त था। इसका परिणाम यह हुआ कि वह कुसंगत में पड़ गया और अरिनिमाल की जिन्दगी बरबाद हो गई। संभवतः इसी हार्दिक दुःख ने अरिनिमाल को कविता की ओर उन्मुख किया। अरिनिमाल ने प्रेम/सौंदर्य और वेदना के गीत लिखे।[10] ललद्यद और हब्बा खातून की तरह इनकी जिन्दगी में भी मुसीबतों का पहाड़ टूटा, जिसके परिणामस्वरूप पर ससुराल से वह पिता के पास वापस लौट आईं।[11]

महमूद गामी (1765-1855 ई.) ने कश्मीरी प्रबंध काव्यों को फारसी प्रेमाख्यानों की तर्ज पर ढाला। महमूद गामी ने उस वक्त कश्मीरी भाषा में काव्य रचना करने का साहस किया जब चारों ओर फारसी छायी हुई थी। इनको जुलेखा/लैला-मजनूं/शीरीं-खुसरो/शेख़-सना आदि प्रबंध-काव्यों के लिए प्रसिद्धि मिली है। महमूद गामी ने पर्शियन मसनवी और गजल से कश्मीरी साहित्य का परिचय करवाया। कश्मीरी साहित्य को महमूद गामी की बड़ी देन है उनका 'यूसुफ-जुलेखा' काव्य जो कश्मीरी में लिखा बहुत प्रसिद्ध और पहला मसनवी काव्य है। कश्मीरी कवि महमूद गामी के काव्य से पश्चिमी देशों का प्रथम परिचय करवाने का श्रेय Karl Frederick burkhard को जाता है, जब उन्होंने 1895 में एक बार फिर आंशिक रूप से गामी के यूसुफ-जुलेखा को जर्मन मैगजीन में प्रकाशित किया। कुछ लोग मानते हैं कि वर्जीनिया बुल्फ के रिश्तेदार ब्रिटिश पेंटर द्वारा 'यूसुफ जुलेखा' का पश्चिमी देशों तक पहुँचना संभव हुआ। जब प्रिंसेप (1838-1904) कुछ तस्वीरें लेने के बाद राजौरी के पास एक कश्मीरी फकीर से मिले तो उसने घंटों तक घूमते हुए उन्हें कश्मीरी गीत सुनाए। प्रिंसेप ने नोट्स लिए और दो गीतों का अनुवाद किया जिनमें एक गीत महमूद गामी का प्रेम-गीत प्रतीत होता है- Like a flower bearing plant I have become withered/even I for thy love, o be;/I wail like the nightingale/where shall I seek thee, o lily?/deal gently with me come to my feast;/ I will encircle thee with my arms, o bee!/what said I to thee that vexed thy heart with me?/by God, I adsure thee tell me what is in thy heart.?o dear friend where dedst thou flee from me?/forsaking me sundar 0, bee/.

वाजा महमूद कश्मीरी सूफी कवियों में प्रयोगशीलता के लिए मशहूर हुए। इसी तरह कश्मीरी सूफी काव्य में **अहमद बटवारी** का नाम सादर लिया जाता है। इस्लाम के भारत पहूँचने पर फारसी को भी बराबर से प्रसिद्धि मिली, हिन्दू और मुस्लिम समाज में। इसी वजह से वेदांत और सूफीमत के बीच आदान-प्रदान हुआ और इसमें भक्ति आंदोलन ने मुख्य भूमिका निबाही। यहाँ विशेष रूप से शम्स फकीर ने कश्मीरी कविता में सूफी तत्वों का समावेश किया और साथ ही इस्लाम से भी प्रेरणा ली।

साधारण तौर पर रहस्यवादी आम आदमी की भलाई और उससे प्रेम के साथ उसकी दुर्दशा के प्रति दया से परिपूर्ण रवैया अपनाता है। रहस्यवादी जैसे-जैसे आध्यात्मिक राह पर बढ़ता है, तो उसे अनुभव होता है कि सारे धर्मो का निचोड़ एक है और उनका लक्ष्य भी एक है।

शम्स फकीर की कविता में व्याप्त रहस्यवादी तत्व जिसकी विषय वस्तु और अंतःप्रेरणा सूफी है, इस्लाम की तुलना में। इसके साथ ही इनमें अन्य रहस्यवादी प्रकार भी महत्त्वपूर्ण तरीके से तुलनीय हैं। कवि विशेष रूप से समान शब्दों/पदबंधों का प्रयोग उल्लेखनीय सरलता और सुविधापूर्वक करता है जो हिन्दू शास्त्रों (वेदांत और शैव-दर्शन के मूलपाठ) से व्युत्पन्न हैं। प्रो. ए.एन. धर ने कुछ कविताओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, जिनमें सृष्टि के आदि कारण की रहस्यवादी तलाश है। एक जिज्ञासा है और एक सनातन प्रश्न "Agur kami drav" कविता में कवि चिंतन करता है कि चारों दिशाओं में रात-दिन चलने वाली हवा का प्रेरक कौन है? हवाएं कहाँ से आती हैं और कहाँ चली जाती हैं? वह जानना चाहता है कि यह शोरगुल करती एकरूप धाराएँ कहाँ से निकलती हैं जो आगे बढ़ती हुई अपने अस्तित्व की जल के प्रेरणा में विलीन करके सार्थकता पाती हैं। कवि स्वयं को आगाह करते हुए कहता है, अगर आध्यात्मिक रहस्यावादी ज्ञान पाना ही लक्ष्य है जीवन का तो उदार-हृदय बनो सूर्य की तरह जो सारे आसमान को प्रकाशित कर देता है अपनी ज्योति से। आत्मविश्लेषण करो, जीवात्मा-परमात्मा के अंशांशी संबंध को जानो और मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव को मिटा दो।

अहं का विलय होने के बाद ही उस परम आत्मा का बोध हो सकता है।[12] शम्स फकीर की कविता "Rinda sara ho sapdi kunu ye" में रिंद ऐसा व्यक्ति है जो धार्मिक बंधन में विश्वास नहीं करता।[13] सूफी संतों ने रिंद शब्द का बहुत प्रयोग किया है। शम्स फकीर भी उपर्युक्त कविता में कहते हैं साधक द्वारा आत्म-विजय आध्यात्मिक ऊंचाई पर पहुंचने के लिए, साधना को उन्नत करने में सीढ़ी का काम करती है और आत्म विजय के लिए साधक को जीवन-मुक्त होना सीखना अपेक्षित है। शैव-दर्शन में जीवन-मुक्त उसे कहते हैं जिसका मन वासना रहित हो गया हो - 'यस्य निर्वासनो बोधः स जीव मुक्त उच्यते।'[14] क्योंकि मोक्ष कोई अलग अवस्था नहीं है।[15]

रहमान दर (मृत्यु 1897) की रचना है Sheshrang जिसकी वजह से उन्हें प्रसिद्धि मिली। यह रहस्यवादी अध्यात्म पर आधारित रचना है। रहमान दर उन्नीवसवीं सदी के आखिर और बीसवीं सदी की शुरुआत में पुनरुज्जीवित सूफी कविता से संबंध रखते हैं। रहमान दर ने लिखा है - हे ईश्वर इस सांसारिक भीड़ में मैं तुम्हें खोजता फिरा। रहमान डार की कविताओं में स्त्री-पुरुष के बीच पनपते प्रगाढ़ रागात्मक संबंधों की अभिव्यक्ति हुई है; जिसमें सूफी चिन्तन झलकता है। स्वच्छक्राल की कविता में कश्मीरी सूफियों का प्रिय शून्य का दर्शन उपलब्ध होता है। इनके अनुसार ईश्वर एक सौंदर्य सत्ता है, जिसका रूप सारी सृष्टि में समाया हुआ है। केवल वही सत्य है और उसी में समाहित होना जीवन का चरम लक्ष्य है। उनकी कविता 'कुछ नहीं' में ही सब कुछ सिमटा हुआ है। इनकी कविता में ईश्वरीय सत्ता और मानवीय चेतना के एकत्व पर प्रकाश डाला गया है। आत्मा-परमात्मा के संबंध को लेकर उन्होंने पारंपरिक प्रतीकों को नए अर्थ में व्यंजित किया है। उदाहरण के तौर पर देखिए- 'उद्‌गम कितना लघु, पर उससे ही निकली यह विराट नदी /जल है, नाव है, नाव है, जल है / दोनों अभिन्न एक-दूसरे पर आश्रित/ अलग-अलग दिखते हैं पर दोनों हैं एक।[16]

हजरत बुलबुल शाह को बुलबुल-ए-कश्मीर उपाधि दी जाती है। कश्मीर के लोगों को जिन्होंने सबसे अधिक प्रभावित किया है। उनके मूल निवास स्थान के बारे में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। डॉ. एस. एन. नाज बुलबुल शाह का ईरान से आना बताते हैं, कुछ अन्य उन्हें बगदाद से जोड़ते है और

कुछ तुर्किस्तान का कहते हैं। कुछ कहते हैं मंगोलों के डर से वह एक हजार रफ्यूजियों के साथ कश्मीर आए थे। बुलबुल शाह बहुत विद्वान एवं धर्म में विश्वास करने वाले व्यक्ति थे। इसी विश्वास की मशाल लेकर उन्होंने लोगों के हृदय में बसे अज्ञान रूप अहंकार को मिटाया। कश्मीर की सूफी सभ्यता का मूल प्रारंभ, सारी दुनिया में कश्मीरियत के नाम से जाना जाता है, उसमें भाईचारे / बंधुत्व का दर्शन और पारस्परिक प्रेम भावना तथा एक-दूसरे के प्रति सम्मान की भावना का प्रचार-प्रसार बुलबुलशाह द्वारा किया गया, जिन्हें साधारण लोग कश्मीर का बादशाह के नाम से जानते थे। बुलबुल शाह के वक्त प्रख्यात बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म और इस्लाम का प्रभाव एशिया में था। बुलबुल शाह ने तीनों धर्मों के सार का प्रचार- प्रसार किया और शांति प्रेम का संदेश दिया।[17]

शाह गफूर इस दुनिया में जन्म लेकर सांसारिक सुख-संसाधन जोड़ने/माया-मोह के बंधन में पड़कर जीवन व्यर्थ करने की अपेक्षा कहते हैं- 'योंत यिथ जनमस केंह छुनह लारुन/दारनायि दारुन सूहम सू/ब्रह्मा, व्यषिन महीश्वर गारुन/X X X बशर त्रॉविध ईशर गारुन।'[18] अर्थात् मनुष्य शरीर पाकर जीवन की उपलब्धि है ईश्वर को पाने की साधना में रत रहना। शाह गफूर की रचनाओं में सूफी दर्शन का प्रेम तत्त्व और वेदांत दर्शन का अभूतपूर्व सामंजस्य देखने में आता है। एक उदाहरण देखिए- 'योत थिथ जनमस केह छुनु लारुन/दारनायि दारुन सो हम सो/ब्रह्मा विष्नु महीशर गछि गारुन/शिव शक्ति आसी तिहिंजि जेब/पान है खटनाय जान ह्यरव मारुन।' अर्थात् यह संसार मिथ्या है, थोथा है यहां कुछ प्राप्ति नहीं होगी। कवि कहता है- हे प्राणी, तू उसी का स्मरण कर जो तुझमें समाया हुआ है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर सब उसी एक परम तत्व के ही रूप हैं, उसी की तलाश कर। ऐसा करने से तू उसी परम तत्व का अंग बन जाएगा। वेदांत में जीव और ब्रह्म के बीच अंशांशी संबंध माना गया है।[19]

मिर्जा काक (1805-1891) - दर्ज किए गए इतिहास के माध्यम से कश्मीर की संतों/मनीषियों और रहस्यवादियों की भूमि पर ललद्यद की परंपरा में आगे चलकर मिर्जा काक का नाम आता है, जिन्होंने कश्मीर में वाख परंपरा को जारी रखा - Vaksh are the quintessence of spritual and religious sayings and utterances of mystics and saints.[20] Mirza Kak has given a fine metaphor that Omkar is arrow, wordly man is bow and our target is Brahma. He says-Om is real man, om is the light it is past, present and future. It is the God of Gods.[21]

कश्मीर के विख्यात कवि **प्रकाश राम** (1819-1877) मेधावी छात्र थे। समय के साथ बुद्धि की परिपक्वता के चलते इनका 'राम' के प्रति भक्तिभाव दृढ़ होता गया। इसी भक्ति के कारण इन्होंने 'रामावतारचरित' और 'लवकुशचरित' कश्मीरी में लिखा। यह महाकाव्य कश्मीरी में लिखित पहली रामायण थी। कश्मीरी साहित्य में 'रामवतारचरित' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।[22] प्रकाशराम ने इसके अतिरिक्त कृष्णलीला काव्य भी लिखे, जिनमें से 'अंकनंदुन' और 'कृष्णावतार लीला' चर्चित हुई। यह उनके वैचारिक भाईचारे एवं बंधुत्व का प्रमाण है कि उनकी शिष्य मंडली में हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्म के लोग सम्मिलित थे। प्रकाशराम ज्यादा से ज्याद वक्त ईश्वर के अनवरत गहन चिन्तन-मनन में गुजारा करते थे। वह 'श्रीराम' के परम भक्त थे, इस पर भी उन्होंने इस्लाम के 'तसव्वुफ' पर कई कविताएँ लिखी- उदाहरण कि लिए देखिए "Oh my beloved I saw thou face to face without vell, thy love chopped me into pieces, face to face without veil, prakash clothed his soul with mortal body, but breathing within it, the existence inside body came from deity, face to face without veil......"[23] प्रकाशराम अन्यत्र भी लिखते हैं "Oh! my friend whom my beloved loves who he leet me at the dawn, shepherd left floce of sheep, some got across some did not, none at

watch may some skipped who he left me at the dawn, when prakash got conscious, he was in rapture while listening to sweet music, my beloved drank and was fairly squiffed, who left me at he dawn."[24] प्रकाशराम कहते हैं कि उन लोगों के लिए जिन्होंने अपने माता-पिता खो दिए हैं और इस पार्थिव संसार में उनका अपना कहने के लिए कोई नहीं है, उन्हें भी स्वयं को अकेला नहीं सोचना चाहिए क्योंकि ईश्वर ही माँ-बाप की तरह उनकी देख-रेख करता है। जिनके घर-बार नहीं हैं अनिकेत हैं, उन्हें भी दर्दनाक अनुभूति से परे रहना चाहिए क्योंकि जिस भी आश्रय में उन्हें खुशी और आराम मिलता है, वही असंदिग्ध घर है।[25] प्रकाशराम ने संस्कृत और पर्शियन के बजाय सामान्य भाषा का प्रयोग किया।

अब्दुल अहद जरगर सूफी फकीर थे जिन्होंने तत्कालीन समस्याओं और संदर्भों से स्वयं को अलग करके अन्तर्जगत के रहस्यों पर से परदा उठाया। सूफी साधना के गुह्य रहस्यों की ओर संकेत किया। इनका सोच संकुचित धार्मिक संप्रदायों तक सीमित नहीं है। उन्होंने युवावस्था में बेहद तीखी और भीतर सोयी हुई अग्नि को प्रज्ज्वलित कर देने वाली कविताएँ लिखीं जो सूफिज़्म से संबद्ध थीं। उनमें स्वाभाविक मौलिक शैली और अत्युष्णतायुक्त काव्यात्मकता थी, अपना आध्यात्मिक प्रेम कविता में व्यक्त करने के लिए। उन्होंने कश्मीरी कविता के प्रभाव को पुनरुजीवित करके विस्तार किया। अब्दुल अहद जरगर ने अपने काव्य में अरबी/फारसी/संस्कृत शब्दों का बेहिचक प्रयोग किया। वे लिखते है "An unseen realm ensues at the island of beauty, the rivers of beloved flow everywhere, within me I saw him caress my painfull sick heart, and now he appears with his scimitar on my neck, Isaw the kingly stay in the Kaba, and now he appears an infidel of the idol temple, I saw him shoot arroues of death, ahad zargar, I saw offers his body to dwell them."[26] उपर्युक्त पंक्तियों में जो उग्र अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से है उससे स्पष्ट है कि कितना गहरा बौद्धिक प्रभाव आध्यात्मिक प्रेम ने जरगर साहब पर डाला; और उसने अपने रत्नों से भरे शराब के प्याले को रहस्यवादी कविताओं के रूप में कागजों पर छलका दिया। जरगर साहब दृढ़ विश्वासपूर्वक इस पर मुहर लगाते हैं कि ईश्वरीय प्रेम के राज्य में एकमात्र आध्यात्मिक मार्गदर्शक 'फकीरी' है। जरगर साहब की 'फकीरी' पाठक को मंत्रमुग्ध करती है, जिसमें उन्होंने आत्मा-परमात्मा के मिलन का विस्मयकारी और स्तब्ध करने वाला काव्यात्मक रूप में वर्णन किया है। अतुलनीय है यह कवि-प्रतिभा।

माखनलाल कौल 'महव' का कश्मीरी/उर्दू/हिंदी/संस्कृत और फारसी पर अधिकार था तथापि उन्होंने जनसाधारण की भाषा का प्रयोग अपनी सूफी कविताओं में किया है। स्वामी **गोविन्द कौल वनपोह** अनंतनाग कश्मीर में पैदा हुए। " He is so much devoted to Gopala bala Krishna that he loses the consciousness of his limited self in his bout of 'lolamasa' (love-drink). he offers himself wholly to his Rasaliala (sport of love) involving measured movement of the body. Beside himself with joy, he would like to a accompany Balakrishna in his Ramblings on the bank of the river Yamuna and give his all to kissing his feet (moni-padan). He hears the sounds of Om from his flute and wishes to play Rasa in all forms with him. All the time the soul of Om reverberates and he perspires profusely at the site of his lover's hair (poem no. 27 shyam-sunderam...p, 31) that Manmohan gets complete hold of his mind; and he feels charmed..... hereth swami completely identifies himself with his beloved Krishna, offering his all for love-his body, mind, intellect and what not." गोविन्द कौल लिखते हैं - " You are Atman and the light of intelligence of whom the Bhakta asks for

calm of mind and pure intelligence of overcome the darkness of ignorance."[27]

वहाब ख़ार (1842-1912 ई.) ने विशेष रूप से रहस्यवादी कविताएँ लिखी हैं, जो उनकी प्रसिद्धि का कारण है। उनके पिता सूफी संत थे जिनका नाम हैत खार था। वहाब ख़ार के जन्म और मृत्यु के बारे में निश्चित तौर पर कुछ कहना संभव नहीं। फकीरी की सोहबत में ज्यादा वक्त बिताते थे। वहाब साहब का लोहे का व्यवसाय था। जैसे लोहे को विभिन्न आकार देने के लिए मोड़ा जाता है, वैसी ही कुशलता से यह अपने काव्य को भी अपनी इच्छा के अनुसार ढाल दिया करते थे। वहाब खार का सूफी परिवार था और उनके गुरु का नाम अहमद साहिब माचमा था। उस वक्त डोगरा राज्य था; लेकिन कश्मीरी कठिन दौर से गुजर रहे थे। इनकी शरीक-ए-हयात (बीबी) जिनका नाम रहमत था, इनकी सब तरह मदद करती थी। वहाब साहब के अनुयायियों में हिन्दू भी थे और उन्हें शैविज्म और हिन्दू रीति-रिवाजों का अच्छा ज्ञान था। वहाब साहब का मानना है कि जो भी संसार-सागर को पार कर जाते हैं, लौटकर फिर नहीं आते। कितने ही शक्तिशाली राजाओं ने जन्म लिया हातिम ताई जैसे जिन्होंने आसानी से हर मुश्किल का सामना किया, लेकिन अंत में वे भी मिट्टी में मिल गए। उनकी प्रसिद्धि का कारण है 'Maachh tullar' and 'Mehraj naama' किताबें।

मकबूल शाह क्रालवेरी (1820-1876) की कश्मीरी में लिखी रचना 'गुलरेज' बहुत प्रसिद्ध है। इस मसनवी में कवि की कल्पना व निर्माण शक्ति कवित्व की पराकाष्ठा तक पहुंच गई है। मकबूल शाह क्रालवेरी का नाम कश्मीरी रहस्यवादी कविता में इज्जत से लिया जाता है। 'गुलरेज' में मकबूल शाह क्रालवेरी प्रेम-मुहब्बत को राजसी भौतिक सुखों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं। उनकी मिन्नत है, दरख्वास्त है; ऐ खुदा ! किसी को भी प्रेम के सुख से/खुशी से महरूम न रख क्योंकि प्रेम परम आनंद की अनुभूति करवाने में समर्थ है। गुलरेज प्रेम कथा है। संक्षेप में कहानी देखिए - नायक अजब मल्लिक और नोशलाब का बहुत दिन बाद मिलन होता है। सुंदर बाग है। रंग-बिरंगे फूल महक रहे हैं और बुलबुल की सुरीली आवाज सुनाई दे रही है। ऐसे बेहद खुले-खिले खुशनुमा माहौल में दोनों मिलते हैं। और पता ही नहीं चलता कब एक-दूसरे के प्यार में डूबे / लिपटे सो जाते हैं। जब नौशलाब महल में नहीं लौटती तो माँ का दिल अपनी बेटी के लिए बेताब हो उठता है। नौकरों को खोजने के लिए इधर-उधर और बाग में भेजा जाता है। माँ एक अजनबी के आलिंगन में बेसुध सो रही नौशलाब को देखते ही अपना आपा खो बैठती है। नौकरों को हिदायत दी जाती है कि दोनों को अलग करके, नौशलाब की नींद में खलल डाले बिना उसे महल में उसके बिस्तर पर सुला दिया जाए और अजनबी अजब मल्लिक को यहाँ से बहुत दूर तुर्किस्तान में छोड़ दिया जाए। जब सुबह नौशलाब की नींद खुली तो खूबसूरत बाग का कहीं पता नहीं था और न प्रिय का चेहरा ही कहीं दिखा। बहुत ढूँढ़ा पर हासिल कुछ नहीं हुआ। नौशलाब अपने प्रिय के ख्याल में डूबी जागती है तो सोचती है - मैं प्रिय की बाहों में हूँ, लेकिन प्रिय कहीं नहीं था "Ah! How springtime lulls you into a deep sleep." नौशलाब समझ जाती है 'The love of her life has gone', मर्मान्तक पीड़ा का अहसास होता है।[28]

जिंदा कौल मास्टर जी (1884-1965) स्वान्तः सुखाय काव्य-रचना करते थे। उन्होंने भक्ति एवं सर्वत्र शांति जैसे विषयों पर लिखा है। इन पर ललद्यद और परमानंद का प्रभाव दिखाई देता है। जिंदा कौल का मानना है कि आँसू बहाने मात्र से कोई लाभ नहीं होने वाला, निरन्तर रोते हुए चट्टान से सिर फोड़ने का भी औचित्य नहीं है। क्योंकि शरीर क्षणभंगुर है, क्षण-क्षण उसमें परिवर्तन होते रहते हैं। भूख और प्यास से छीजते शरीर के ठंड से कंपकपाते रोगों से घिरे होने पर मन का चांचल्य बढ़ जाता है, मन अशांत हो उठता है और ऐसे में जीवात्मा- "Without the encounter with the good/without the

realization of the good/the mind is searching for something lost/like a person drunk in sleep." इच्छाओं और मनस्ताप के कारण दुःखी जीवात्मा का विश्वास फिर भी बना रहता है कि किसी समय, कहीं, कोई बेहद दूर अपने प्रिय परमात्मा की झलक पा ही लेगा। यह उस कस्तूरी मृग की गंध की तरह है, जिसे वह अपने भीतर विद्यमान होने पर भी मंत्रमुग्ध-सा बाहर उसे खोजने की कोशिश करता रहता है। सूफी कवियों जैसी परमात्मा के लिए ललक जिंदा कोल के काव्य में दिखाई देती है। जिंदा कोल ने फारसी/हिंदी/उर्दू/कश्मीरी में साहित्य रचना की है। यह पहले कश्मीरी कवि थे, जिन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार 1956 में 'सुमरन' के लिए मिला। आरंभिक काव्य में जिंदा कौल ने भक्ति/दर्शन और शांति पर रचनाएँ लिखी। फिर उनकी आधुनिक कश्मीरी कविता ईश्वर से प्रार्थना करने की अपेक्षा आसपास के घटना-क्रम से विक्षुब्ध होती है और ऐसे में सवाल उठने लाजिमी हो जाते हैं- 'उस प्रेमहीन से प्रेम की याचना कैसी? 'विलो' के दरख्त से फल की आशा क्यों? जब हम उस ईश्वर का अता-पता-ठौर-ठिकाना ही नहीं जानते तो हम उसकी यथास्थिति की खोज कैसे कर सकते हैं? मास्टर जिंदा कौल साहब के गीत 'सुमरन पनुन्य दिचेनम/प्रेमुक निशानं व्यसिए' याद करते आँखें नम हो जाती हैं। सखी को संबोधित करते हुए कहा है- उसने तो मुझे प्रेम की निशानी दी थी, मेरी ही झोली छोटी पड़ गयी। मैं उस प्रेम को सहेज कर रखने में असमर्थ रहा।

परिजादा गुलाम अहमद (1887-1952) 'महजूर' उपनाम से मशहूर हुए। पर्शियन और उर्दू में लिखते थे। उनकी कविताओं में प्रेम/साम्प्रदायिक मेल-मिलाप/सामाजिक सुधार का वर्णन है। इसके अतिक्ति पारंपरिक नज़्म और ग़ज़ल में भी वे क्रांति लाए। रवींद्रनाथ टैगोर ने गुलाम अहमद महजूर को 'Wordsworth of Kashmir' कहा था। काव्य-यात्रा का प्रारंभ इन्होंने प्रेम कविताओं से किया था, जिनमें पार्थिव और आध्यात्मिक प्रेम दोनों का शुमार था। जीवात्मा-परमात्मा अभिन्न हैं, दोनों में अंशांशी संबंध है और जब जीवात्मा का परमात्मा से साक्षात्कार होता है तो जीवात्मा का बेहाल हो जाना सहज है। जीवात्मा अनुभव करती है, जैसे युद्धक्षेत्र में जवान दूसरे प्रतिपक्षी पर दया नहीं दिखाता वैसे ही परमात्मा द्वारा फेंके गए प्रेम-बाण से घायल हो जाना जीवात्मा की नियति बन जाती है। आगे महजूर साहब फरमाते हैं "My lot is tears! Leaving me lonesome and broken he's gone/who known where?..... " एक अन्य कविता में भी प्रेम का उद्वेग दिखाई देता है- "I'll rock you in my arms/O my pearl, do not forsake, me/..... I'll lie in wait for you in the deepest woods/kneel at your feet under the jasmine bush/..... Mahjoor languishing for you love/and shall offer whatever you ask./pray you too show equal faith."[29]

समद मीर (1894-1959) की गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा है। समद मीर का सूफीयाना अंदाज बेहद दिलकश है। जीवात्मा चाँद में अपने प्रिय परमात्मा को देख कर इंतज़ार करती है कि बादलों की ओट हटे तो वह उससे अपना दुखड़ा रो सके- 'हवा-सी मैं आती तुम्हारे पास/और पहुँचती तुम तक लिए अपने सारे शिकवे-शिकायतें' लेकिन जीवात्मा माया-मोह, कर्म -बंधन में बँधी, अहंकार में डूबी प्रिय परमात्मा से अपरिचित है। यह समझ से परे है अज्ञानी जीवात्मा की कि परमात्मा तो 'उजाला है भोर का / किरणें बिखेरता हुआ।' यह वजह है कि जीवात्मा का 'जुही-सा तन' दग्ध होता है परमात्मा के प्रेम की अग्नि की तपन महसूस करते हुए। जीवात्मा की एक और चाह है - 'मैं तो उसी की आस में बैठी थी / वह आता तो मेरे दर्द की दवा हो जाती।' समद मीर की निगाह में ईश्वर प्राप्ति की चाह हो तो साधक के लिए आत्मज्ञानी होना अनिवार्य है; क्योंकि इस संबंध में दुनियावी किताबी ज्ञान का कोई अर्थ नहीं है। ललद्यद की तरह समद मीर भी अनहद नाद सुनते हैं - 'उस

अदृश्य की आवाज़ मेरे कानों में पड़ी / वह क्या था जो उसने मुझसे कहा?/ ऐसा लगा जैसे हरे पत्तों पर दर्द की चिंगारी पड़ी हो। प्रिय का सक्षात दर्शन अनिर्वचनीय आनंद देता है साधक को। समद मीर कहते हैं - 'किससे कहूँ मैंने अपना दिन और रात गंवा दिया / उस अरूप ने मुझे कैसे-कैसे रूप दिखाए / ऐ समद मीर, इन जलवों की थाह ले/ वहाँ तो बुद्धि की पहुँच ही नहीं है। वहाँ - 'रंगमहल के छज्जे पर मेरी जगह है / शून्य जिसका आँगन है/न उसकी कोई नींव है, न छत / जहाँ से मुझे बुलावा आ रहा है।' समद मीर जान चुके थे कि भीतरी सत्य तक पहुँचने के लिए अहंभाव को मिटाना जरूरी है। तभी वह कहते हैं- 'अंदर की दुनिया को पाने के लिए / अपने आप को मिटा दे / अपने आप को जान।' और जो अपने आपको 'जान' लेता है, उसके लिए जन्म-मरण के अर्थ निरर्थक हो उठते हैं। उन्होंने लिखा है - 'अब मेरे लिए समान है जीवन भी और मरण भी/न मुझे किसी का शोक होगा, न किसी को मेरा शोक / मैं मरूँ तो अच्छा, जियूँ तो वह भी अच्छा।[30] समद मीर ने भी 'अकनंदुन' की रचना की।

कई सौ साल से 'अकनंदुन' = The only son लोककथा को लेकर कविता भी लिखी जाती रही और नाटक भी लिखे जाते रहे। 'अकनंदुन' एक कहानी है जिसमें मानसिक व्यथा है, वेदना है, मुसीबतें हैं, अविश्वास है और चाहना है, अतृप्त इच्छाएँ हैं। 'अकनंदुन' कई रचनाकारों द्वारा अपनी-अपनी लेखन-शैली में लिखा गया है जैसे बहादुर गनी (15वीं सदी), रमजान भट (19वीं सदी), ताराचंद, विस्मिल कश्मीरी (बीसवीं सदी) और अब्दुल अहद जरगर। 'अकनंदुन' की लोककथा का समद मीर ने भी अपने रहस्यवादी विचारों को प्रकट करने के लिए प्रयोग किया है। समद मीर के 'अकनंदुन' के चौदह भाग हैं और उसके सब पात्र हिन्दू है। उदाहरण के लिए - "Father-king Harnam, mother-sunmaal juggee is saint seven sisters are disciples etc. are just symbolic. Actually he wants to express his deep thoughts about the actual relation between Mursheed and his disciples. how a disciple should forget and bury his own sele for the love of his Mursheed, which is also an imperative stage in Tasawwuff."[31] समद मीर ने इस रचना में उन्होंने प्रस्तुत किया - "Synthesis between Sufism and shaivism." समद मीर के विषय में खोज करने के बाद डॉ. मोतीलाल साक़ी इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि लेखक का समय 1893-1956 तक रहा।[32] आर्थिक लाचारी की वजह से पिता खालिक मीर साहब बच्चों को पढ़ा नहीं सके और समद मीर ने आजीविका के लिए पुश्तैनी धंधा आरीकशी को अपनाया और इसके साथ-साथ काव्य-रचना भी करते रहे। आरीकशी के काम-काज में समद मीर की मुलाकात हिन्दू धर्म-दर्शन के पंडितों से हंदवाड़ा में हुई। पंडित माधवराम से आजीवन समद मीर का दोस्ताना बना रहा। समद मीर साहब की निगाह में 'साधना का अर्थ बिना किसी को तकलीफ दिए एकांत में ईश्वर का स्मरण है।' कमशेर में रहने वाले हिन्दू उनके घर को अपना घर समझते थे। सच तो यह है कि सूफी संतों की महफिलें भाईचारे की महफिलें हुआ करती थीं। अपने आचरण और साहित्य द्वारा समद मीर ने मानवतावादी मूल्यों पर जोर दिया है। परमात्मा के साक्षात्कार होने की स्थिति में समद मीर का मानना है- 'तुम्हारे नयन अगर श्रवणमय हो जाएं/ तो हर रात तुम्हारे लिए मुक्ति की रात होगी। उन्होंने लिखा है- 'जिए कैसे वह जिसका तुमने होश छीन लिया हो।' जीवात्मा कभी तो परमात्मा-प्रेम में विभोर होकर प्रिय को अपने करीब महसूस करती है और कभी साधक कवि आधिकारिक प्रश्न भी उठा बैठता है - 'पूछूंगी उससे अब कहाँ गया वह मुझे छोड़कर / अभी तो मेरे पास था।' प्रेम का लौकिक-सा प्रतीत होने वाला धरातल कब आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँच जाता है, पता ही नहीं चलता। आम आदमी यह जानता है जो उत्पन्न हुआ है, उसका मरण भी

निश्चित है फिर भी डरा हुआ सा जीता है। समद मीर कहते हैं - 'फना की शंका छोड़ तू देख बका क्या होती है/ ..... उससे भी आगे तुझे दिखाई देगा वह शहंशाह/ ..... अभी तो वह मेरे पास था।

अब्दुल अहद आजाद (1903-1948) प्रसिद्ध कश्मीरी कवि हैं। इन्हें जॉन कीट्स ऑफ कश्मीर भी कहा जाता है। उन्होंने अपनी बहुत सारी कविताएँ आध्यात्मिकता से ओतप्रोत लिखीं। अपनी कविताओं में सांसारिकता में डूबे लोगों को उन्होंने याद दिलाया कि उनका जन्म किसलिए हुआ है और वे क्या करते आ रहे हैं। प्रो. के.एन. धार लिखते हैं - 'He has not woven songs of sorrow' बल्कि आशावादी संतोषजनक भविष्य की कल्पना की। यही वजह है कि उन्हें 'A poet of morrow' कहा गया है। आजाद साहब मनुष्य को हारा हुआ नहीं बल्कि मुश्किलों से सामना करते देखने के अभिलाषी रहे।[33] आजाद साहब की ईश्वर से प्रार्थना थी- "O God I do not yearn after riches and gold but would implore you to show me such a world in which divine obedience is to remember God within always, but not to pray to him everytime for the fulfillment of each and every want." अब्दुल अहद आजाद हिन्दू-मुस्लिम एकता के हिमायती रहे। उनकी निगाह में - "Hindu-Muslim amity and consequen solidarity is marrow-deep ..... human beings have one and only one religion that is living up to human values..... if God had to segregate nations and creeds from each other, then he would have provided them with separate earth them with separate earth and sky."[34]

चटाई से बुने हुए विस्तृत चारागाह / नृत्य करते रंग-बिरंगे जंगली फूल / अपनी स्वच्छता और विशुद्धता का गान गाते पारदर्शी झरने / हवा जमीन है जो आंतरिक प्यार और भावावेश के लिए बनाई गई है और जहाँ खुशहाल जिंदगी व्यतीत हो सकती है, ऐसी मनभावन वादी में हुए **रसूल मीर**। इनको 'The poet of bubbling love' कहा जाता है।[35] रसूल मीर प्यार की धार कविता में उड़ेलने में समर्थ कुशल कवि हैं, जैसे सावधानीपूर्वक साफ बोतल में शराब डालने वाला एक कुशल व्यक्ति होता है। उनके समय का निर्धारण करने में बहुत जोरदार वाद-विवाद है। विद्वान कश्मीरी लेखकों के शोध-कार्यों पर दृष्टि डालने के परिणामस्वरूप यह सारांश निकलता है कि "Rasool may have lived into the last decade of 19th centure." रसूल मीर अपने प्रिय को तराशते हुए महसूस करते हैं जैसे "Like dew on a flower are the drops of sweat on her face or else stars walking over moon that my high-necked love." अपने भाव को विस्तार देते हुए विशाल परिप्रेक्ष्य में रसूल मीर की दृष्टि लौकिक धरातल से अलौकिक धरातल पर जा पहुंचती है।

रसूल मीर की निगाह में प्रेम सर्वोत्तम डोर है मनुष्य हृदय की जो संपूर्ण ब्रह्माण्ड के लिए तरंगित उपहार है। रसूल मीर के लिए प्रेम ही धर्म है, प्रेमास्पद केवल ईश्वर है और उनके गीत प्रसन्नतापूर्ण वेग से ईश्वरीय स्तुति करने के लिए उत्साहित होकर प्रकट होते हैं। डॉ. आर. एल. भट लिखते हैं- "Henzi-yani, hindu giri is an unmistakable refrain in Rasool Mir's poems." संभवतः ऐसी भावपूर्ण कविताएँ भावावेशपूर्ण प्रेम के अभाव में नहीं लिखी जा सकतीं।

गुलाम नबी फिराक (1927-2016) साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित कवि हैं। उनकी गिनती उन महानुभावों में की जाती है जिन्होंने कश्मीरी संस्कृति/परंपरा और भाषा को संजोकर रखने का प्रयास किया। रेडियो कश्मीर पर इनकी कविताएँ प्रायः सुनने में आती थी - "That pretty face visited me early in the morning/the ambiance around is simply perfumed early, too early in the morning." प्रकृति में

परमात्मा की झलक महसूस करना आनंदित करता है।[37] क्योंकि रहस्यवादी कवि सारी प्रकृति में ईश्वर को ही समाया हुआ देखते हैं।

प्रेमनाथ प्रेमी (1929-2000) जन साधारण के रचनाकार हैं। उनका 'प्रायश्चित्त' महाकाव्य है, जिसमें उनका झुकाव सामाजिक/आध्यात्मिक विचारों को प्रकट करता है। मोहनलाल राजदान (1929-2009) कश्मीरी कविता/भजन/गजल के रचनाकार थे। कविताओं का आधार पारलौकिक सत्ता रही, उनका यकीन था संसार नश्वर है। वे एक अनुभवी कवि थे। उन्होंने रहस्यवादी रचनाओं के साथ-साथ भजन एवं गजलें भी लिखीं। उनके अनुसार संसार क्षणभंगुर है।

1950 में कई पढ़े-लिखे लोग कश्मीरी गद्य-पद्य में लिखने की तरफ आर्कर्षित हुए और आधुनिक कश्मीरी साहित्य को समृद्ध किया। इन लोगों में दीनानाथ नदीम, रहमान राही, मुजफ्फर आजिम, गुलाम नबी फिराक, अमीन कामिल, अख्तर मोहिउद्दीन, सर्वानन्द कौल प्रेमी आदि हैं। इनके बाद के लेखक हैं हरिकृष्ण कौल, मजरूह राशिद, रत्तनलाल शांत, हृदय कौल भारती, नजीर जहाँगीर, मोतीलाल केम्मु आदि। परम्परागत लेखकीय कोशिशें आज भी चल रही हैं, कविता का प्राधान्य अब भी बना हुआ है। नैतिक शिक्षा के रूप में मौखिक साहित्य आज भी प्रगति-पथ पर है। सूफी फकीर एवं अन्य अनेक कश्मीरी ऋषि रचनाकारों के संग आम आदमी का आज भी हिन्दू-मुस्लिम भाईचारे की और झुकाव है; सब अमन-चैन चाहते हैं, फिर नेपथ्य में वे कौन हैं.....???

संदर्भ

1. B. L. Razdan, the true Kashmiri sufism. । **2.** डॉ. किश्वर सुलताना, भाषा, पृ. 81 पर सूफी दर्शन और आध्यात्म प्रेम लेख (मई-जून 2016)। **3.** Courtesy : Prabuddha bharta Source : Koshur samachar by : A. N. Dhar । **4.** सं. डॉ. रामकुमार गुप्त, साहित्य भक्ति और दर्शन का वैभव, भाग-02, पृ. 1374 पर डॉ. शिबन कृष्ण रैना का लेख-योगिनी ललद्यद। **5.** मजबूर, कृष्ण राजदान, पृ. 40। **6.** From wikipeadia। **7.** इस लोककथा को धर्मवीर भारती के लेख से हूबहू लिया गया है। विभिन्न पाठों में पाठान्तर संभव है। **8.** By B. B. Kachru, Prof. K.N. Dhar. **9.** From wikipeadia. **10.** Koshur Samachar by : Dr. Krishna Raina। **11**. द्र. वही। **12.** By Prof. A.N. Dhar, Koshur Samachar, religious mysticism some observations on the poerty of shamas faqir, courtesy : Prabuddha Bharta. **13.** Jawaharlala Handoo, Lalita Handoo, Hindi-Kashmiri common vocabulary, page-271 (Publisher-Central Institute of Indian Language, Mysore-570006 first ed. 1975। **14.** योगवाशिष्ठ, 03/09/07/, शिवसूत्र, विमर्श, पृ. 52, भट्टकल्लटाचार्य, स्पन्दकारिका, पृ. 118, श्लोक 28/29/30, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम सं. 1981। **15.** भट्टकल्लटाचार्य, स्पन्दकारिका, पृ. 69 पर उद्धृत तंत्रालोक-1.156। **16.** भाषा, पृ. 116 पर महाराज कृष्ण संतोषी का लेख : कश्मीरी साहित्य : एक परिदृश्य, जनवरी-फरवरी 2008। **17.** From wikipeadia। **18.** शाह गफूर, सूफी शाइरी, प्रथम भाग, पृ. 99। **19.** द्र. वही, पृ. 99-100। **20.** From wikipeadia. **21.** By K.N. Dhar, p. 25, Koshur Music a collection. **22.** From wikipeadia. **23.** From wikipeadia. **24.** From wikipeadia. **25.** From wikipeadia. **26.** From wikipeadia. **27.** द्र. वही। **28.** You tube, Maqbool Shah Dralwari's 'Gulraiz' by Rajbegum. **29.** From wikipeadia। **30.** डॉ. मोतीलाल साकी, समद मीर। **31.** From wikipeadia। **32.** डॉ. मोतीलाल साकी, समद मीर, पृ. 13। **33.** By prof. K.N. Dhar, Glimpses of Kashmirir Culture। **34.** द्र. वही। **35.** By Dr. R. L.Bhat, Kashmir Sentinel। **36.** द्र. वही। **37.** From wikipeadia.

14, हरिद्वार रोड, देहरादून-248001
(उत्तराखंड), मो. 8171155421

●

चलते तो अच्छा था में ईरान का इतिहास

स्मृतिरेखा नायक

असगर वजाहत के कुल चार यात्रा-वृतान्त हैं 'पाकिस्तान का मतलब क्या', 'रास्ते की तलाश में', 'चलते तो अच्छा था' और 'अतीत का दरवाजा'। इनके यात्रा-वृतान्तों में ईरान, जॉर्डन, पेत्रा, मारामारोश, मैक्सिको, आज़रबाईजान, पाकिस्तान आदि विदेशों की यात्राएँ लिपिबद्ध हैं। साथ ही 'रास्ते की तलाश में' में अंडमान-निकोबार, कोंकोण, सिमोगा, मिजोरम आदि देशीय यात्राओं के अनुभव दर्ज हैं। 'पाकिस्तान का मतलब क्या' यात्रा-वृत्तान्त में विभाजन के बाद पाकिस्तान के गठन, नये देश के बने नये कानून, मुस्लिम देश में स्त्री की स्थिति, अल्पसंख्यकों की दशा, जिया शासन की बर्बरता आदि कई पहलुओं पर पाठक को अवगत कराया गया है। पाकिस्तान के नया देश बनने से लेकर उसकी राजनैतिक अस्थिरता, आर्थिक डवांडोल, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पक्षों की छानबीन करके यात्रा-वृतान्तकार ने बड़े सुनियोजित रूप से इस यात्रा संस्मरण को लिखा है। 'रास्ते की तलाश में' में 'आज़रबाइजान मुस्लिम देश में हिंदू मंदिर' आलेख में बाकू, जिसे हवा का शहर कहा जाता है और वहाँ अग्निमंदिर जो काफी प्राचीन है, उसके इतिहास को यात्रा में जानने की कोशिश की गयी है। इस ऐतिहासिक अग्निमंदिर के स्थापत्य और शिलालेखों की जांच पड़ताल करके यह सुनिश्चित किया गया है कि यह मंदिर एक हिंदू मंदिर है। यात्राकार ने आज़रबाईजान यात्रा में इतिहास को निकट से परखा है। यात्रा-वृत्तान्तकार के रूप में खुद का परिचय देकर स्पष्ट करते हैं कि **'भाई मैं टूरिस्ट नहीं... सोशल टूरिस्ट हूँ। मेरा काम सिर्फ जगहों, इमारतों को देखना नहीं बल्कि लोगों से मिलना-जुलना, बातचीत करना और उन बातों को जानना-समझना है जो मुझे नहीं मालूम।'**[1] सही है एक यात्रा-वृतान्तकार का यही कर्तव्य है कि अनजानी बातों की जाँच पड़ताल कर उसे पाठकों के सामने प्रस्तुत करे जिससे छुपी हुई बातों का पता चले और आगे उस पर अनुसंधानात्मक कार्य किया जा सके। यात्रा-वृतान्त में लेखक या यात्रा-वृतान्तकार आंखों देखी घटनाओं, स्थानों और मिले व्यक्तियों के अनुभवो को अपने शब्दों के माध्यम से पुनर्जीवित करता है। इससे सत्यता की परख आसानी से हो जाती है। आज के यात्रा-वृतान्त लेखन की कठिनाई को बताते हुए लेखक स्पष्ट करते हैं कि 'आज यात्रा-संस्मरण लिखना काफी कठिन हो गया है। कारण यह है कि इंटरनेट के माध्यम से सारी जानकारियाँ बहुत सरलता से मिल सकती हैं। केवल जानकारियाँ ही नहीं बल्कि विस्तृत

विवरण इंटरनेट पर उपलब्ध है। आप किसी शहर की यात्रा घर पर बैठे इंटरनेट पर कर सकते हैं। बिना गए बड़े-से-बड़े संग्रहालय को इंटरनेट पर देखा जा सकता है। खान-पान, रीति-रिवाज, साहित्य-संगीत, नाटक और अन्य कलाएं सब कुछ इंटरनेट पर उपलब्ध हैं।[2] अब यात्रा-वृतांतकार लिखे तो क्या लिखे जो पाठकों को नई जानकारी दे। तब इस समस्या का हल यही है कि यात्रा-वृतांतकार उन जगहों की यात्रा करें जो इंटरनेट पर उपलब्ध नहीं हैं। हालांकि यह काम दूरूह बन जाता है। घुमक्कड़ी करना और घुमक्कड़ी के बाद उसे साहित्य के रूप में लिख बैठना, फिर उसे पुस्तक का स्वरूप प्रदान करना अलग-अलग कार्य है। वैसे तो अनेक यात्रा करते रहते हैं तब क्या सभी यात्रा संस्मरण लिखने बैठते हैं? ऐसा होता तो यात्रा साहित्य की कई पुस्तकें प्राप्त होती। लेकिन ऐसा बिलकुल भी नहीं है। घुमक्कड़ी करने के बाद उसकी विशेषताओं को समेटकर यात्रा-वृतान्तकार नये-नये जानकारियाँ पाठक के सामने रखता है। इस बारे में असगर वजाहत स्पष्ट करते हैं कि 'केवल इमारतें देख लेना और मनोरम स्थानों की सैर कर लेना घुमक्कड़ी नहीं है। लेखक की नजर उन पक्षों पर होनी चाहिए जो साधारणतः नजर नहीं आते। लेखक को स्वयं यह देखना और सोचना होता है कि वह जिस नए समाज को देख रहा है उसे किस दृष्टि से देखा जाएं।[3] बहुत से ऐसी जानकारियाँ हैं जो इंटरनेट से पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हो सकती हैं इसलिए लेखन-पठन की जरूरत है। पुस्तकों का अध्ययन करने की बेहद आवश्यकता है। पुस्तक में सत्यता की परिपुष्टि ज्यादातर रहती ही है। यात्रा-वृतांत में सच्चाई के साथ ब्यौरा प्रस्तुत किया जाता है।

'चलते तो अच्छा था' यात्रा-वृतान्त को ईरान का यात्रा-वृतांत कहना गलत नहीं होगा क्योंकि पुस्तक के आवरण पृष्ठ में लिखा है, 'ईरान यात्रा-वृतांत।' इसमें ईरान और आजरबाईजान की यात्रा-स्मृतियां दर्ज हैं। यात्राकार द्वारा मुस्लिम प्रधान देशों की यात्रा कर उनके समाज, संस्कृति और इतिहास को समझने-समझाने की कोशिश की गई है। इतिहास और संस्कृति के साथ-साथ सामाजिक पृष्ठभूमि हर यात्रा-वृतान्त में निहित रहती है। चूंकि समाज से इतिहास और फिर संस्कृति भी जुड़ी हुई रहती है। इसमें इस्फ़हान, शिराज़, तेहरान, आज़रबाईजान, कुम, मशहद आदि ईरान के प्रमुख शहरों और पड़ोसी शहरों की यात्रा करके लोगों को नजदीक से देखने-परखने, उनकी जीवन शैली, संस्कृति को जानने की कोशिश की गई है।

अतीत में भारत और ईरान में अच्छा संबंध था जिसको अंग्रेजों ने ही षड्यंत्र कर बिगाड़ा। ईरान और भारत के आर्य-जाति की शाखाओं से सम्बंधित होने के कारण सांस्कृतिक रूप से दोनों राष्ट्रों के बीच कई प्रकार से समानता झलकती है। आर्य पूर्व में सिंध नदी से लेकर पश्चिम में इनयूब नदी और उत्तर में अरल झील से लेकर ईरान की खाड़ी तक निवास करते थे। भारत पर आर्यों का आक्रमण और उनका कई पीढ़ियों तक भारत में बसे रहने के तथ्य प्राप्त होते हैं। इस संदर्भ में रामविलास शर्मा स्पष्ट करते हैं कि 'भारतीय आर्यों को जिस हिन्दी-ईरानी शाखा से जोड़ा जाता है, वह भारत पर ईरान के आक्रमण के बाद बनी है, जिसे अब ईरानी क्षेत्र कहा जाता है, उसमें पहले 'कुभा' के 'भ' जैसे सघोष महाप्राण व्यंजनों का व्यवहार होता था, वह इतिहास में प्राप्त तथ्यों से प्रमाणित है। फिर कुभा से काबुल का जन्म हुआ।[4] ईरान से ही आर्य भारत में पहुँचे। आधुनिक ईरानी भाषा क्षेत्र ईरानी शाखा के अंतर्गत माना जाता है। इतिहासकारों के अनुसार प्राचीन ईरान की पूर्वी सीमा को लाँघकर आर्य भारत पहुंचे। पर सिंधु नदी तो काफी बड़ी थी तो वह कैसे इसे पार किये, इस पर विवेचना करना जरूरी है। वैसे भाषिक तौर पर बात की जाए तो भारतीय शाखा की भाषाओं के विपरीत ईरानी शाखा की भाषाओं को कुछ कबीलाई सभ्यता

के लोग व्यवहार करते थे। भाषा विज्ञानियों के मत में वैदिक साहित्य की भाषा प्राचीन ईरानी भाषा से मिलती जुलती है। इंडो-ईरानियन भाषा भारत और ईरान के संबंध को प्रमाणित करती है।

पूरा ईरान लगभग 1,68,000 वर्ग किलोमीटर में बसा हुआ है। तीन सागरों से जुड़ा हुआ है यथा फारस-खाड़ी, ओमन सागर एवं कैस्पियन सागर। आजरबाईजान देश के साथ भी कैस्पियन सागर जुड़ता है। ईरान को हखामांशी वंश के साथ याद किया जाता है। फारस या पारस के प्रमुख कबीलों में से हखामांशी कबीला ने पारस के राजतंत्र को संभाला था। ये लोग बलशाली थे तो कई क्षेत्रों को अधिकार में कर अपना साम्राज्य विस्तार करते गये। समयानुक्रम से हखामांशी राज्य अति विशाल होता गया। मेसोपोटामिया के बाबुली राजवंश एवं लोदीया शासक योजना करके तथा मिस्र के साथ सम्मिलत होकर भी हखामंशी शासक कोरूश को हरा नहीं पाये। अंत में उन्हें कोरूश के साथ आपसी समझौता करना पड़ा। कोरूश के भतीजे दारूस ने जब राजवंश की बागडोर संभाला तब पुनः हखामंशी वंश बलशाली राज्य के रूप में उठ खड़ा हुआ। दारूस ने पारस, इक्वाताना, हमदान, शूश, बाबुल आदि पर अधिकार किये। यूनान और ईरान के मध्य हुए युद्ध दारूस के शासन काल की मुख्य घटनाएँ हैं। दारूस की शासन प्रणाली उत्कृष्ट थी। लेखक स्पष्ट करते हैं कि 'ईसा से पाँच सौ साल पहले दारूस महान ने अपने साम्राज्य का आधार गणतांत्रिक राज्य व्यवस्था को बनाया था। साम्राज्य के राज्यों को अधिकार दिए गए थे और केंद्र की नीतियाँ उदार तथा जनहित में थी। साम्राज्य की आय का सबसे बड़ा स्रोत व्यापार से प्राप्त कर था जिसे बढ़ाने के साथ-साथ साम्राज्य व्यापारियों की सुरक्षा पर ध्यान देता था। दारूस ने अपने साम्राज्य के दो कोनों को जोड़ने वाले एक ढाई हजार मील लंबे राजमार्ग का निर्माण भी कराया था। इतिहासकार कहते हैं कि पूरे साम्राज्य में डाक व्यवस्था इतनी उत्तम थी कि एक कोने से दूसरे कोने तक डाक पंद्रह दिनों में पहुँच जाती थी।'[5] दारूस ने कई इमारतें बनाई जो साम्राज्य के वैभव का प्रदर्शन करती थी। दारूस के राजत्व काल में जो निर्माण पूरा नहीं हो पाया उसको दारूस के पुत्र जेरजेस ने पूरा किया। ईरान में बने 'तख्ते जमशैद' और 'नक्से रुस्तम' ऐतिहासिक कला की महत्ता और सिद्ध कारीगरी के प्रमाण हैं। अब ईरानी सरकार इसे 'टूरिस्ट प्लेस' बनाकर अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ कर रहा है। ऐतिहासिक इमारतों का संरक्षण होना चाहिए चूंकि इससे मनुष्य का अतीत जुड़ा रहता है। उससे हम अपने पूर्वजों की पारंगतता को जान पाते हैं। अतीत के साथ जुड़े रहने से हम वर्तमान और भविष्य को सही रूप से गढ़ सकते हैं। 'तख्ते जमशैद' और 'नक्से रुस्तम' अब पर्यटन स्थलों में से एक है।

मकदूनिया के सिकंदर ने दारूस तृतीय का वध कर उसके वैभवशाली राज्य को जला डाला। यह वह वक्त था जो ईरानियों के लिए अंधकार युग साबित हुआ। 'ईरानियाँ का नरसंहार किया गया तथा सामाजिक स्थल, बहुमूल्य पुस्तकें और पांडुलिपियाँ भस्म कर दी गई।[6] जब कोई साम्राज्य ध्वस्त होता है तब वह बुराई और अच्छाई दोनों के तौर पर क्षतिग्रस्त होता है। युद्ध, पराक्रमी वीरों की जान के साथ-साथ किसी भी साम्राज्य के बहुमूल्य कला, संस्कृति, साहित्य सभी तत्वों को जला कर भस्म कर देता है। ईरान के इतिहास में हखामंशी वंश तत्कालीन सबसे महत्वपूर्ण राज्य के रूप में जाना जाता है। हखामंशी वंश की सांस्कृतिक उपलब्धियों को अब भी सराहा जाता है। चिकित्सा पद्धति, सामुद्रिक विद्या, स्थापत्य कला, भवन निर्माण शैली, लेखनशैली का प्रयोग, आर्थिक एवं व्यापारिक नीतियां इस वंश की खूबियाँ थी।

हखामंशी राज्य का 331 वर्ष ई.पू. को पतन हो जाता है। फिर सैल्युकी वंश, अशकानी वंश, सासानी वंश ईरान पर राजत्व करते हैं। ईरान पर दो सौ वर्षो

तक अरब ने भी शासन किया। खलीफा विरोधी शिया समर्थक ईरानियों के अभियानों को कुचलने के लिए प्रयास किया गया जो खलीफा बगदाद ने प्रारंभ किया था। फिर ताहिर वंश, अलवी वंश, आले-बुइए वंश, गजनवी शासन, सलजूक वंशों ने जो तुर्क नस्ल के थे, शासन किया। 'सलजूकियों का शासन ईरान में साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण रहा। साहित्यकारों, लेखकों, कवियों आदि को उनके दरबार में पूर्ण संरक्षण प्राप्त था। स्वयं सलजूक शासकों ने फारसी तथा अरबी के साहित्य को प्रोत्साहित किया था।'[7] मुगल आक्रमण के पश्चात ईलखानी मुगल एवं तैमूरी वंश का अधिकार ईरान पर हुआ। ईरानी संस्कृति तैमूरियों के कारण काफी क्षतिग्रस्त हुई। मुगलों के बाद के समय में ईरानी संस्कृति एवं साहित्य पर उस समय के महान साहित्यकारों जैसे शेख सादी, हाफिज आदि ने पुनरूत्थान का कार्य किया। ईरानी कवियों और साहित्यकारों ने ईरानी समाज जहाँ मानवता ध्वस्त था वहाँ मानवता पर विश्वास को जगाया। खासकर संस्कृति पुनरूत्थान पर महत्वपूर्ण कार्य किया। समयानुक्रम ईरान सफवी वंश, शाह अब्बास का राजत्व, अफशार वंश, जंद वंश (काजार) काचार वंश एवं पहलवी वंश के अधीन शासित होता रहा। बाद में इस्लामी गणतन्त्र ईरान के संस्थापक इमाम खुमैनी ने रिजाशाह के राष्ट्र विरोधी प्रतिरोध का स्वर उठाया और पंद्रह साल तक ईरान में इस्लामी गणतन्त्र सरकार की स्थापना की गई। अंततः 1979 ई. में इस्लाम गणतन्त्र ईरान में प्रतिष्ठा हुई। ईरान के जनसाधारण चैन की सांस ली।

यात्रा-वृतान्तकार ईरान के शिराज में स्थिति ऐतिहासिक हाफिज के मकबरे, बाजारे वकील, राहे चिराग का मकबरा, बागे हरम जैसे ईरानी वास्तुकला के श्रेष्ठ नमूनों की जानकारी देते हैं। स्पष्ट करते हैं कि 'तेरहवी और चौदहवीं सदी में ऐसा माना जाता था कि शिराज इस्लामी संसार का सबसे बड़ा सुंदर और आकर्षक शहर था। विश्वविख्यात पर्यटक इब्ने बतूता शिराज से बहुत प्रभावित था।'[8] इतिहास हमें अपने पूर्वजों के साथ जोड़ता है। लेकिन संरक्षण के अभाव से यह नष्ट हो रहा है। पुरातत्व विभाग को इन इतिहास को बताने वाले उपदानों को कैसे संरक्षित किया जाए इस पर सोच-विचार करने की आवश्यकता है। ईरानी बड़े मेहमाननवाज होते हैं। 'ईरान आज़रबाईजान के बार्डर पर पड़ने वाले कस्बे में ईरान का नक्शा खरीदा तो दुकानदार ने यह जानने के बाद पैसे लौटा दिए कि मैं भारतीय हूँ। चाय-वाय पिला देना तो मामूली बात थी। यह है ईरान में भारतीय होने का अर्थ।'[9] किसी भी देश की मानसिकता लोगों के आहार-व्यहार से मालूम होती है। लोगों का व्यवहार उनकी संस्कृति से जुड़ा होता है। जब उजबेक एवं उस्मानी शासकों के आक्रमण शुरू हुए तब ईरान के सफवी शासक शाह तहमास्ब द्वितीय ने तेहरान के रास्ते मान्जिदरान की ओर पलायन किया था। उस्मानी एवं रूसियों ने ईरान पर कब्जा कर उसे आपस में बाँट लिया। इस दौरान ईरान में नादिरशाह का आगमन होता है और उसके द्वारा अफसार वंश के राज्य की स्थापना की जाती है। लेकिन अपनी क्रूरता से वह ज्यादा दिन शासन नहीं कर पाया। अतः नादिरशाह की कत्ल कर दी जाती है। करीम खान जंद ने नादिरशाह की अफसारी हुकूमत के खिलाफ बगावत की और जंद वंश की स्थापना की। शिराज उनका राजधानी बना जहाँ का वकील बाजार आज भी उस काल की याद दिलवाता है। 1795 ई. मुहम्मद खाँ ने तेहरान को अपना राजधानी बनाया। लेकिन उसकी भी हत्या कर दी गई। तेहरान के इतिहास के बारे में यात्राकार स्पष्ट करते हैं कि 'तेहरान ईरान के गौरवशाली इतिहास का हिस्सा नहीं कहा जा सकता'।[10] अब की तेहरान का कुछ अलग ही चित्र बनाया गया है। राजनीतिक और बौद्धिक दृष्टि से यह शहर देश के केंद्र में है।

आज़रबाईजान ईरानी साम्राज्य का ही हिस्सा है।

तुर्कियों का आगमन यहाँ 11वीं सदी में हुआ था। भाषिक तौर पर अजारी भाषा राष्ट्रभाषा बनी। ईरान आजरबाईजान तितर-बितर तब हुआ जब ईरान और रूस के बीच युद्ध हुआ। आजरबाईजान का बड़ा भाग रूस के हत्थे चढ़ गया। 1828 ई. में आज़रबाईजान रूस और ईरान में बंट गया। 'रूस में क्रांति आने के बाद आज़रबाईजान सोवियत यूनियन का एक रिपब्लिक बन गया और यह स्थिति सोवियत यूनियन के विघटन तक जारी रही।'[11] आजरबाईजान का बाकू शहर जिसे हवा का शहर कहा जाता है, पर्यटकों के लिए आकर्षण का केंद्र है। बाकू में तेल का खजाना है। बाकू अंतर्राष्ट्रीय बाजार में करोड़ों डालर की कमाई तेल-व्यवसाय से ही करता है। ब्रिटिश, जर्मन, फ्रेंच, इतालवी कंपनियों की उपस्थिति देश को आर्थिक स्तर पर सुदृढ़ कर रही हैं। बाकू में प्राचीन इमारतें ऐतिहासिक वास्तुकला का प्रमाण देती हैं। 'गिज गलासी', 'ओपन एयर म्यूजियम' 'शीखान शाह का' आदि प्रसिद्ध पर्यटन स्थल हैं। आजरबाईजान और गुबा खानदेश के रूप में परिचित हैं। केंद्रीय सत्ता के कमजोर पड़ते ही प्रभावशाली क्षेत्रीय नेताओं ने अपने छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिए थे जिन्हें अंग्रेजी में 'खानेट' कहा जाता है। गूबा खानदेश की स्थापना 18वीं शताब्दी के मध्य में गूबा खान हुसैन अली ने की थी। उसने यहाँ अपना किला बनवाकर उसके चारों तरफ दीवार भी खड़ी कराई थी। अन्य खानदेशों की तरह गूबा भी 1913 ई. में रूस द्वारा जीत लिया गया था।'[12] ईरान और रूस के बीच हुए युद्ध ने काफी जगह को ध्वस्त कर आपस में बँटवारे में ले ली गई। गूबा के 'कोहे काफ', तुर्की ढंग से निर्मित पुरानी मस्जिद और हम्माम, मध्यकालीन यहूदी बस्ती और अग्नि मंदिर आदि ऐतिहासिक इमारतें समृद्ध स्थापत्य कला से रू-ब-रू कराती हैं। इतिहास की महत्ता से संस्कृति का पक्ष भी जुड़ा रहता है। संस्कृति को जानने के लिए इतिहास की छानबीन करनी पड़ती है। संस्कृति सदियों से निरंतर प्रवाहित होकर चलती आती है। ईरान-रूस युद्ध, सोवियत संघ के हस्तक्षेप ने मध्य एशिया का रूप परिवर्तन कर दिया। खैर, राजनैतिक कारण तो किसी भी देश के विघटन का कारण है।

मध्य एशिया का प्राचीनतम नगर तबरेज है। तबरेज के कुछ हिस्सों में आजारी संस्कृति आज भी है। नीली मस्जिद तबरेज शहर का प्रसिद्ध पर्यटन स्थल है। साथ ही बड़े औद्योगिक शहरों में इस शहर की गिनती होती है। तबरेज की तरह इस्फहान शहर की महत्ता के बारे में यात्रा-वृतान्तकार वर्णन किया है। इस्फहान कभी अविभाज्य ईरान की राजधानी हुआ करता था। इस्फहान में तेहरान की तरह ईरानी संस्कृति की प्रभुता है। इस्फहान शहर ईरानी कला और संस्कृति के क्षेत्र में, फिल्म और साहित्य के मैदान में, स्थापत्य कला में आगे है। इस्फहान का इतिहास सुख्यातिपूर्ण है। यह हखामांशी साम्राज्य के समय एक समृद्ध शहर था। सांस्कृतिक दृष्टि से इसकी अपनी विशेषता थी। यह हखामांशी साम्राज्य के बाद सासानी समाज्य, फिर सफवी सम्राटों के अधीन हुआ। सफवी सम्राटों के समय में भी इस्फहान शहर राजधानी बना रहा। फिर यह आफगानियों के हमलों का शिकार हुआ और राजधानी तेहरान चली गई। शाह अब्बास सफवी के राजत्व में इस्फहान का जो विकास हुआ था जिस पर तेहरान राजधानी बनने के पश्चात पूर्ण विराम लग गया। अभी भी इस्फहान अन्य शहरों की तुलना में अपना अलग महत्व रखता है। यह यज्द जरथुस्त्री धर्म का केंद्र है। ईरान से इस्लाम से पहले जुरथुस्त्री (जोराशट्रियन) धर्म का फैलाव था। असगर वजाहत लिखते हैं कि 'ईरान का सबसे बड़ा त्यौहार 'नवरोज' या 'नवरूज' इस्लामी नहीं बल्कि जोराशट्रियन त्यौहार है।[12]

असगर वजाहत का यात्रा वृत्तांत 'चलते तो अच्छा था' (ईरान यात्रा वृत्तांत) यात्रा साहित्य का श्रेष्ठ उदाहरण है जो ईरानी चेतना, जीवनशैली रीति-रिवाज, संस्कृति और स्थापत्य की विशेषताओं के

साथ यह ईरान की ऐतिहासिकता को जानने की कड़ी प्रदान करता है।

संदर्भ

1. वजाहत असगर, 'रास्ते की तलाश में' पृ.सं.-18। **2.** हाड़ा माधव (संपादक), 'कथेतर' पू. सं.-40। **3.** वही, पृ.सं.-41। **4.** शर्मा रामविलास, 'इतिहास दर्शन', भूमिका से। **5.** वजाहत असगर, 'चलते तो अच्छा था', पृ.सं.-9। **6.** सिमाए-फरहंगीए (अनुवाद एवं संपादन-चंद्रशेखर, तिवारी मधुकर) 'ईरानी सभ्यता एवं संस्कृति की झलक' पृ.सं.-11। **7.** वही पृ. सं. 21। **8.** वजाहत असगर, 'चलते तो अच्छा था', पृ.सं. 16। **9.** वही, पृ.सं.-37। **10.** वही, पृ.सं.-51। **11.** वही, पृ.सं.-94। **12.** वही, पृ.सं.-117।

हिन्दी विभाग
सरबती देवी महिला महाविद्यालय,
राजगांगपुर -770017 सुंदरगढ़, ओड़िशा
ई-मेल : smuruti032@gmail.com
मो.-7749026444

क्या आप जानते हैं दुनिया की सबसे महँगी जमीन खरीदने वाला आदरणीय टोडरमल जैन था। क्या आप जानते हैं दुनिया की सबसे महंगी जमीन कहां पर है? आज तक किसी एक भूमि के टुकड़े का सबसे अधिक दाम चुकाया गया है वो हमारे भारत में ही पंजाब में स्थित सिरहिन्द में, और विश्व की इस सबसे महंगी भूमि को खरीदने वाले महान व्यक्ति का नाम था दीवान टोडरमल जी जैन। गुरु गोविंद सिंह जी के छोटे-छोटे साहिबजादों बाबा फतह सिंह और बाबा जोरावर सिंह की शहादत की दास्तान शायद आप सबने कभी ना कभी कहीं ना कहीं से सुनी होगी... यहीं सिरहिन्द के फतहगढ़ साहिब में मुगलों के तत्कालीन फौजदार वजीर खान ने दोनों साहिबजादों को जीवित ही दीवार में चिनवा दिया था। दीवान टोडरमल जी जैन, जो कि इस क्षेत्र के एक धनी व्यक्ति थे और गुरु गोविंद सिंह जी एवं उनके परिवार के लिए अपना सब कुछ कुर्बान करने को तैयार थे। उन्होंने वजीर खान से साहिबजादों के पार्थिव शरीर की माँग की, और वह भूमि, जहाँ वह शहीद हुए थे वहीं पर उनकी अंत्येष्टि करने की इच्छा प्रकट की...। वजीर खान ने धृष्टता दिखाते हुए भूमि देने के लिए एक अटपटी और अनुचित माँग रखी। वजीर खान ने माँग रखी कि इस भूमि पर सोने की मोहरे बिछाने पर जितनी मोहरें आएंगी वही इस भूमि का दाम होगा। दीवान टोडरमल जी जैन ने अपने सब भंडार खाली करके जब मोहरें भूमि पर बिछानी शुरू की तो वजीर खान ने धृष्टता की पराकाष्ठा पार करते हुए कहा कि मोहरें बिछा कर नहीं बल्कि खड़ी करके रखी जाएंगी ताकि अधिक से अधिक मोहरें वसूली जा सकें... खैर दीवान टोडरमल जी जैन ने अपना सब कुछ बेच-बाचकर और मोहरें इकट्ठी की और 78000 सोने की मोहरें देकर चार गज भूमि को खरीदा ताकि गुरुजी के साहिबजादों का अंतिम संस्कार वहाँ किया जा सके...। विश्व के इतिहास में ना तो ऐसे त्याग की कहीं कोई और उदाहरण मिलती है ना ही कहीं पर किसी भूमि के टुकड़े का इतना भारी मूल्य कहीं और आज तक चुकाया गया। जब बाद में गुरु गोविन्द सिंह जी को इस बारे में पता चला तो उन्होंने दीवान टोडरमल जी जैन से कृतज्ञता प्रकट की और उनसे कहा कि वे उनके त्याग से बहुत प्रभावित हैं, और उनसे इस त्याग के बदले में कुछ माँगने को कहा। जरा सोचिए, दीवान टोडरमल जी जैन ने क्या माँगा होगा। दीवान जी ने गुरु जी से जो मांगा उसकी कल्पना करना भी असम्भव है। दीवान टोडरमल जी जैन ने गुरु जी से कहा कि यदि कुछ देना ही चाहते हैं तो कुछ ऐसा वर दीजिए की मेरे घर पर कोई पुत्र ना जन्म ले और मेरी वंशावली यहीं मेरे साथ ही समाप्त हो जाए। इस अप्रत्याशित मांग पर गुरु जी सहित सब लोग हक्के-बक्के रह गए... गुरु जी ने दीवान जी से इस अद्भुत माँग का कारण पूछा तो दीवान जी का उत्तर ऐसा था जो रोंगटे खड़े कर दे। दीवान टोडरमल जैन ने उत्तर दिया कि गुरु जी, यह जो भूमि इतना महंगा दाम देकर खरीदी गयी और आपके चरणों में न्योछावर की गयी मैं नहीं चाहता कि कल को मेरी आने वाली नस्लों में से कोई कहे कि यह भूमि मेरे पुरखों ने खरीदी थी। यह थी निःस्वार्थ त्याग और भक्ति की आज तक की सबसे बड़ी मिसाल...। आज किसी धार्मिक स्थल पर चार ईंटें लगवाने पर भी लोग अपने नाम की पट्टी पहले लगवाते हैं... एक पंखा तक लगवाने पर उसके पर अपने नाम छपवाते हैं। हमारे पुरखे जो बलिदान देकर गए हैं वह अभूतपूर्व है और इन्हीं बलिदानों के कारण ही हम लोगों का अस्तित्व अभी तक है...। हमारी इतनी औकात नहीं कि हम इस बलिदान के हजारवें भाग का भी ऋण उतार सकें।

स्वत्वाधिकारी भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता के लिए सचिव शंकरलाल सोमानी द्वारा कल्याणी प्रिंटर्स, अलखसागर रोड, बीकानेर के लिए कंप्यूटर-एन-मीडिया, 25ए, सी.आर. एवेन्यू, कोलकाता-72 में मुद्रित एवं भारतीय विद्या मंदिर से प्रकाशित। संपादक-डॉ. बाबूलाल शर्मा।